

कोकिल सीरीज़—संख्या १

लाला हरदयाल के

# स्वाधीन विचार

( नवीन संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण )

अनुवादक—

श्री नारायणप्रसाद अरोड़ा

प्रकाशक—

भीष्म एण्ड ब्रादर्स

पटकापुर, कानपुर

तृतीय बार ] जुलाई १९४८ [ मूल्य—तीन रुपया

# भूमिका

लाला हरदयाल सरीखे महापुरुष को जन्म देकर कोई भी सभ्य जाति अपने को धन्य मान सकती है। प्रतिभा, विचार-शीलता, विद्वता, बहुज्ञता, बहुश्रुतता और इन सभी गुणों से बढ़ कर चरित्रबल, मनोयोग और लगन का अपूर्व समावेश जिस व्यक्ति के जीवन में हो उसे महामानव की श्रेणी में कौन विवेक-पूर्ण पुरुष परिगणित न करेगा? लाला हरदयाल में ये सब गुण थे। इस पुस्तक के प्रारम्भ में दी हुई अरोड़ा जी द्वारा लिखित विद्वतापूर्ण प्रस्तावना में लाला जी की जीवन-चर्या तथा उनके विभिन्न निबन्धों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जायगी कि हमारे युग का यह विशेष सौभाग्य था कि लालाजी सरीखे उपदेशक, पथ-प्रदर्शक और विद्वान् ने अवतीर्ण होकर उसे उपकृत किया। किन्तु ब्रिटिश शासन से अभिशप्त भारत के घोर दुर्भाग्य की थोड़ी-बहुत कल्पना इस बात से की जा सकती है कि ऐसे महापुरुष को अपनी मातृभूमि से निर्वासित होकर ३० वर्ष देश-विदेश में भटकना पड़ा। जब अन्त में भारतमाता को अपने होनहार पुत्र को अपनी गोद में प्रेमपूर्वक आश्रय देने का सुअवसर आया तो कराल काल ने ऐसा न करने दिया।

इस पुस्तक में लालाजी के जिन लेखों का संकलन किया गया है उनको एक बार ही पढ़ने से विशेष उत्साह, स्फूर्ति और साथ ही साथ आनन्द का संचार होता है। हमारी स्वतन्त्रता के इस नवीन युग में लाला हरदयाल के स्वतन्त्र, निर्भीक और विवेक-पूर्ण विचारों का अधिक से अधिक प्रचार होना चाहिए। इसी उद्देश्य से इस पुस्तक का प्रकाशन किया गया है। आशा है कि भविष्य में हिन्दी के पाठकों को लाला हरदयाल के अन्य निबन्धों के पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त होगा।

—लक्ष्मीकान्त त्रिपाठी



स्वर्गीय ला० कन्हूलाल जी

स्वर्गीय पिताजी

लाला कन्हूलाल जी

की

पुण्य-स्मृति में

श्रद्धा भेंट

—नारायण

प्रिय मित्र श्रीयुत नारायण
प्रसाद जी की सेवा में प्रेम और
नमस्कार स्वीकार हो। आप ने जो
पुस्तक मेरे पास भेजी है उस को पढ़
कर चित्त बहुत प्रसन्न हुआ। आप
का अनुवाद "बहुत अच्छा" और शुद्ध
है। मैं आप को धन्यवाद देता हूं॥

अब मैं केवल हिन्दी और उर्दू में
लिखूंगा। यदि दूसरे प्रांतों के लिये
कभी कुछ अंग्रेजी में लिखना हुआ तो
हिन्दी से अनुवाद करके छपवा दूंगा।
मातृ भाषा ही मुख्य भाषा होनी चाहिये।
१९०८ में मैं ने इस प्रण पर विचार नहीं
किया था॥

मैं ने "प्रणवीर" में एक लेख
भेजा है "स्वराज्य का मार्ग"। आप
उस की समालोचना करें। नये
विचार हैं॥ मैं कुशल से हूं। यहां
जाड़ा बहुत है॥

हितैषी
Appalviken (Sweden) हरदयाल
[illegible]

( श्री नारायण प्रसाद अरोड़ा के नाम
लाला हरदयालजी का पत्र )



लाला हरदयाल

( विदेश में—सन् १९३५ )

# लाला हरदयाल

सन् १९३९ की ४ मार्च को अमेरिका में भारत के सपूत लाला हरदयाल की मृत्यु अचानक हृदय की गति रुक जाने से हो गई। मृत्यु के समय लाला जी की उम्र ५४ वर्ष की थी और स्वास्थ्य भी ठीक ही था। ३० वष तक स्वदेश से निर्वासित रहने के पश्चात् डा० सर तेज बहादुर सप्रू के अथक प्रयत्न करने पर ही लाला हरदयाल को भारत लौटने की आज्ञा मिली थी। परन्तु देश को यह सौभाग्य न प्राप्त होना था कि उसका प्रकाण्ड पण्डित पुत्र आकर अपने अनुभवों और पाण्डित्य को भेंट मातृ-भूमि को समर्पित कर सके। वह देश का रत्न था और स्वदेश के प्रति उसमें अटूट लगन थी। वह देश-प्रेम ही की धुन में विदेशों में भटकता फिरा। सन् १९०८ से निर्वासित हो कर वह तीस वर्ष के दीर्घकाल तक मातृ-भूमि के दर्शन के लिये तड़पता रहा और देश की बेबसी तथा परतन्त्रता के कारण न लौट सका और जब लौटने की आज्ञा मिली तब ख़ुद ही चल बसा।

इस मेधावी और विलक्षण स्मरणशक्ति वाले महापुरुष ने अपने शिक्षाकाल से ही स्वदेश सेवा के लिये दरिद्रता का व्रत ले लिया था। वह एक ग़रीब ख़ानदान में पैदा हुये थे और आगे बढ़े अपनी शक्ति और प्रतिभा से। एक ओर ग़रीबी और दूसरी ओर देश की परतन्त्रता, इन्हीं दोनों की लड़ाई में उनका सारा जीवन बीता। उन्होंने अपनी शक्ति से बढ़ा और अपनी प्रतिभा से चमके।

उनमें कुछ ऐसी विशेषतायें थीं जो विरले ही पुरुषों में मिलती हैं। उनका जीवन एक आदर्श की ओर उन्मुख रहा

और उनकी सारी शक्ति उस आदर्श की प्राप्ति की ओर लगी रही। पढ़ने-लिखने में वह इतने तेज़ थे कि अपना सानी नहीं रखते थे। त्याग, लगन और कार्य-शक्ति उनमें कूट-कूट कर भरी हुई थी। वह सदा कष्टों का आह्वान करते थे। मुसीबतों से जूझना ही उनके जीवन की एक सब से बड़ी विशेषता थी।

वे दिल्ली के सेंट स्टीफेंस कालेज के छात्र थे। जिन दिनों वे उक्त कालेज में फर्स्टइयर क्लास में पढ़ते थे, उनके किसी मित्र ने Light of Asia नामक पुस्तक मंगवाई। हरदयाल जी ने अपने मित्र से कहा कि आज की रात के लिये यह पुस्तक मुझे दे दो, कल कालेज आने पर मैं उसे लौटा दूंगा। जब दूसरे दिन वह पुस्तक उस मित्र को लौटा दी गई, तब उक्त मित्र ने उनसे पूछा कि क्या तुमने इसे पढ़ लिया। अगर पढ़ लिया है तो बतलाओ कि अमुक स्थान पर क्या लिखा है? हरदयाल जी ने तुरन्त उत्तर दिया कि अमुक बात पुस्तक के बाईं ओर के पन्ने पर लिखी है और उसमें यह लिखा है। उनका मित्र दंग रह गया और उसने वह पुस्तक उन्हें भेंट कर दी।

उनकी बुद्धि की विलक्षणता और उनकी योग्यता के सम्बन्ध में एक किम्बदन्ती यह भी है कि एम० ए० के इम्तिहान में निबन्ध (Essay) पत्र का उनका लेख देख कर परीक्षक ने उस पर नोट लिख दिया था कि "मैं स्वयं ऐसा उत्तम निबन्ध नहीं लिख सकता, उसे मैं जाँचूँ कैसे?" खैर जो कुछ भी हो, इतना तो निर्विवाद है कि लाला हरदयाल ने एम० ए० में अपने विश्व-विद्यालय के उस समय तक के समस्त छात्रों से अपना नम्बर आगे बढ़ा दिया था अर्थात् उनके पहले किसी छात्र को वह स्थान नहीं प्राप्त हुआ था जो उन्हें मिला था। परीक्षा में सर्व-श्रेष्ठ स्थान पाने के कारण उन्हें एक सरकारी छात्र-वृत्ति मिली, जिसकी सहायता से वह विलायत गये और वहाँ आक्सफोर्ड

के सेंट स्टीफेंस कालेज में भर्ती हो गये। आक्सफोर्ड में तीन महीने के बाद वह वहाँ से संस्कृत भाषा के इम्तिहान में सर्वप्रथम आये और उन्हें एक दूसरी छात्रवृत्ति मिली, जिसकी सहायता से वह भारत आकर अपनी धर्मपत्नी को विलायत ले गये।

उसके बाद आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में लाला हरदयाल तीन वर्ष तक डट कर पढ़ते रहे। सुना है कि उन्होंने ब्रिटिश विधान पर लगभग २०० ग्रंथ पढ़े थे। जब वह वहाँ विश्वविद्यालय में काफी अध्ययन कर चुके तब उन्होंने सरकारी छात्रवृत्ति स्वयं छोड़ दी और परीक्षा देने से इसलिए इन्कार कर दिया कि उन्हें कोई डिग्री नहीं चाहिये थी। उनके कालेज के प्रिन्सपल साहब ने कहा कि "मिस्टर दयाल! गवर्नमेंट आफ इण्डिया से तुम्हारा झगड़ा है, तो तुम उनकी छात्रवृत्ति मत लो, मैं एक छात्रवृत्ति अपने पास से तुम्हें दूंगा। अगर तुम हमारे कालेज से परीक्षा दोगे, तो मैं इसे अपनी प्रतिष्ठा समझूँगा।" परन्तु हरदयाल जी ने उनकी बात स्वीकार नहीं की और कहा कि "मुझे जो पढ़ना था वह मैं पढ़ चुका। मैं भारत से केवल पढ़ने के लिये आया था, डिग्री लेने नहीं। भारत में पढ़ने के ऐसे साधन नहीं थे अतः मुझे आना पड़ा। मैं इम्तिहान के लिये क्षमा चाहता हूँ।"

हरदयाल जी सचमुच डिगरियों से चिढ़ते थे। जब कोई उनके नाम के साथ एम० ए० लिख देता था तब वह उसको लिख भेजते थे कि "भाई मैंने एक बार पाप किया है, अब आप हमेशा मुझे गाली क्यों लिखते हैं ?" अर्थात् डिग्री को वह एक गाली समझते थे।

जिस समय लाला हरदयाल विलायत में थे उस समय उनकी स्वर्गीय काशी प्रसाद जायसवाल और स्वर्गीय भाई

परमानन्द से बड़ी घनिष्ठता हो गई थी। भाई परमानन्द ने अपनी "कालेपानी की कहानी" में हरदयाल जी के सम्बन्ध में कई जगह थोड़ा-बहुत लिखा है। भाई जी ने इसी पुस्तक में एक स्थान पर लिखा है कि हरदयाल जी ने अपने विचारों में प्रकाश पाने के लिए एक टापू में जाकर महीनों तपस्या भी की थी।

१९०८ में आक्सफोर्ड से पढ़ कर भारत लौट आने पर उन्होंने यहाँ काम करने का केवल इरादा ही किया था और अँग्रेजी शिक्षा और अँग्रेजी सरकार के खिलाफ जो थोड़े से लेख लिखने शुरू किये उससे सरकार थर्रा गई। हमारे सूबे की सरकार इतनी भयभीत हुई कि सम्भव था कि वह हरदयाल जी को किसी बहाने से फांस कर बन्द कर देती। किन्तु लाला लाजपतराय जी ने शीघ्रातिशीघ्र उन्हें विदेश भेज दिया और वह भारतीय सरकार के चंगुल से बच गये।

अमेरिका और युरोप की कई युनिवर्सिटियों तथा अपने पुराने सेण्ट स्टीफेंस कालेज में वह इतिहास, अर्थशास्त्र और दर्शनशास्त्र के अध्यापक रहे। इन्हीं विषयों पर, इँगलैंड, अमेरिका, स्वेडन आदि युरोप के अनेक देशों में लालाजी के सैकड़ों भाषण हुये। यूरोपीय देशों में विद्वानों के सामने भाषण देना कोई हँसी खेल नहीं है। यह काम तो कोई प्रकाण्ड पण्डित ही कर सकता है जो अपने विषय का विशेषज्ञ हो। इतिहास और अर्थ शास्त्र का हरदयाल जी का अध्ययन इतना विस्तृत और अपार था कि उक्त विषयों पर वह अपना सानी नहीं रखते थे। स्वेडन में भाषण देना ही उनके जीविकोपार्जन का मुख्य साधन था।

इंगलैंड, अमेरिका और यूरोप के कई देशों के पत्रों में आर्थिक, ऐतिहासिक और राजनीतिक समस्याओं पर उनके

अनेकों अत्यन्त महत्वपूर्ण लेख छपे हैं। परन्तु हमारे दुर्भाग्य से वे अप्राप्य हैं। यदि उनके साथ उनका कोई सेक्रेटरी होता, तो उन लेखों का संग्रह आज भारत की निधि होता।

सन् १९०८ में उनके लेख पंजाब के उर्दू समाचार पत्रों में प्रायः निकले थे। उनमें से अधिकतर पंजाब के प्रसिद्ध शायर और क्रान्तिकारी लाला लालचन्द फलक ने अपनी 'बन्देमातरम् बुक एजेन्सी' से पुस्तकाकार छाप दिये थे। जो लेख पुस्तकाकार में छपे थे वे ये थे :—

१ कौमी तालीम, २ कौमें किस तरह जिन्दा रहती हैं, ३ सरकारी मुलाजिमत, ४ मजामीन हरदयाल।

इनके अलावा भी अनेक लेख निकले थे। परन्तु वे कहीं एकत्रित होकर नहीं छपे। उनके कुछ उर्दू के लेख कानपुर के "कृष्ण" में छपे थे। अँग्रेजी में उनके लेख श्री रामानन्द चटर्जी के मासिकपत्र 'माडर्न रिव्यू' में ही अधिकतर निकलते थे। कुछ लेख 'वैदिक मेगजीन' में भी निकले थे। लाला हरदयाल के कुछ अँग्रेजी लेखों का संग्रह काशी से Writings of Lala Hardayal के नाम से प्रकाशित हुआ था। लालाजी के ९ लेखों का अनुवाद करके इन पंक्तियों के लेखक ने "लाला हरदयाल के स्वाधीन विचार" नामक एक १०० पृष्ठ की छोटी सी पुस्तक प्रकाशित की थी। हिन्दी में लाला हरदयाल के विचारों की यह पहली ही पुस्तक थी। इस पुस्तक की भूमिका स्वर्गीय गणेश शंकर जी विद्यार्थी ने लिखी थी। इस पुस्तक का दूसरा संस्करण सन् १९२२ में प्रकाशित किया गया और उसमें १५ लेखों का अनुवाद करके पृष्ठ संख्या २०० से ऊपर कर दी गई थी। हरदयाल जी के कुछ लेख लाला लाजपत राय जी के 'People' नामक साप्ताहिक पत्र में भी निकले थे। ये

लेख हरदयाल जी ने अपने प्रवास-काल में विदेशों से ही लिखे थे।

१९०९ में लाला हरदयाल जी ने "हिन्दुस्तान में राष्ट्रीय शिक्षा" पर अनेक लेख लिखे थे। यह लेख माला Education (शिक्षा) के नाम से एक पुस्तक के रूप में छप गई है और 'अमृत में विष' के नाम से इसका हिन्दी अनुवाद भी छप गया है। जिस समय यह लेखमाला लाहौर के "पंजाबी" नामक अँग्रेजी के पत्र में प्रकाशित हुई थी उस समय देश में एक तहलका-सा मच गया था और सरकार के आसन डोल गये थे। अँग्रेजों द्वारा प्रचारित शिक्षा प्रणाली की धज्जियाँ उड़ा कर अँग्रेजी राज्य की पोल खोली गई थी। कुछ प्रान्तीय सरकारें हरदयाल जी के विरुद्ध कार्यवाही करने की बात सोच ही रही थीं कि लाला लाजपतराय ने हरदयालजी के लिये पासपोर्ट प्राप्त करके उन्हें युरोप भेज दिया। तब से तीस वर्ष तक आप स्वदेश नहीं लौटने पाये और निर्वासित रहे।

इस निर्वासन काल में श्री हरदयालजी अपने लेखों और व्याख्यानों ही के द्वारा अपना जीवन निर्वाह करते थे। अमेरिका में वह पहले ही हिन्दुस्तानी थे जो वहाँ की एक युनिवर्सिटी में प्रोफेसर नियुक्त हुये थे। अमेरिका से निकलने वाले 'गदर' और 'तलवार' नामक पत्रों के वह सूत्रधार थे। जिस समय वह स्वीडेन में थे उस समय उन्हें अपनी ठंढ को निवारण करने के लिए कोयलों के दामों के वास्ते व्याख्यान देकर धन जमा करना पड़ता था। इन पंक्तियों के लेखक और स्वर्गीय गणेश शङ्कर विद्यार्थी ने उन्हें ३० पौंड भेजे थे कि इस धन से कोयला खरीद लें और जो समय बचे उसमें भारत के लिए कुछ लिखें। इस सम्बन्ध में उन्होंने वहाँ से कुछ लिख कर भेजा जो "संसार के महापुरुष" नामक एक सीरीज में कई

समाचार पत्रों में निकला। किन्तु यह सिलसिला अधिक दिनों तक नहीं चल सका। कुछ दिन बाद उनके पत्र मेरे और गणेश जी के पास आना बन्द हो गये। मेरे पास उनके पत्र हिन्दी में ही आते थे। उनमें से एक इस लेख आरम्भ ही में दिया गया है।

जिस समय हरदयाल जी भारतवर्ष में थे उस समय उनके लेख अनेक पत्रों में भो प्रचुर मात्रा में निकले थे किन्तु वे भी सब आज नहीं मिलते। कुछ अधूरे ही मिले हैं। जो कुछ भी प्राप्त हो सके हैं उन्हें एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित करके आनेवाले खोजी के लिये थोड़ी-सी सामग्री एकत्रित कर दी गई है। यदि भारत में ही प्रकाशित उनके समस्त लेख मिल गये होते तो कई वाल्यूम बन गये होते।

अपने तीस वर्ष के निर्वासन काल में उन्होंने कौन-कौन सी पुस्तकें लिखीं उन सब का तो पता नहीं किंतु जिनका हाल मालूम हो सका वे ये हैं :—

१—जर्मनी और तुर्की में मेरे ४४ मास—इस पुस्तक में प्रथम महायुद्ध में जर्मन लोगों की क्रूरता और घृणित व्यवहार का आँखों देखा वर्णन है। लालाजी समझते थे कि जर्मन लोग हिन्दुस्तान में अंग्रेजों का राज्य उखाड़ने में भारतीयों की सहायता करेंगे किन्तु जर्मनों ने ऐसा कोई काम नहीं किया। वे प्रत्येक कार्य में जर्मन जाति का स्वार्थ सबसे आगे रखते थे। जर्मनों के व्यवहार से लाला हरदयाल को बड़ी निराशा हुई और असन्तुष्ट होकर उन्होंने उक्त पुस्तक लिख डाली। इस पुस्तक को लालाजी ने भारतीयों और मिश्रियों के लिये लिखा था कि वे समझ जायें कि नैतिक, राजनीतिक और सामाजिक दृष्टि से जर्मन अन्य युरोपियन जातियों से पीछे हैं। उनमें हद दर्जे की आत्म-उपासना भरी है। जर्मनों का विश्वास है कि वे संसार में सबसे महान, बुद्धिमान, वीर और योग्य हैं। वे

समझते हैं कि शत्रुओंकी चाहे जितनी संख्या हो, परन्तु वे ही विजयी होंगे।

तुर्क एक प्राचीन जाति के मनुष्य हैं किन्तु उनकी न कोई सभ्यता है और न राजनीतिक योग्यता। उनका कोई महान या सभ्य जातीय साहित्य नहीं है। तुर्कों में हम साहित्य, कला और दर्शन का अभाव पाते हैं। तुर्क गा नहीं सकते और न सट्टा कर सकते हैं, क्योंकि उनकी दिमागी शक्ति बहुत कुन्द होती है।

२—उनकी The Bodhisattwa Doctrine in Buddhist Sanskrit Literature अर्थात् 'बौद्ध संस्कृत साहित्य में बोधि-सत्व का सिद्धान्त' नामक पुस्तक उनके पाण्डित्य और खोज का परिचय देती है। यह एक उच्चकोटि की रचना है। इसी विद्वता-पूर्ण निबन्ध से हरदयाल जी को यूनिवर्सिटी से पी० एच० डी० की उपाधि मिली थी। यह पुस्तक Kigan Paul, French, Taber & Co. Limited, Broadway House, 68-74, Caster Lane E. C. London से मिल सकती है। लाला हरदयाल जी ने बौद्ध धर्म का गहरा अध्ययन करके यह पुस्तक लिखी थी। इस सम्बन्ध में श्री देवमित्र धर्मपाल ने लिखा है कि :—

"सन् १९२७ में, जब मैं लन्दन की महाबोधी ओसायटी में ठहरा हुआ था, लाला हरदयाल मुझसे मिलने आये थे. और उन्होंने मुझसे यह कहा था कि वे बौद्ध धर्म का अध्ययन कर रहे हैं।"

३—उनकी तीसरी पुस्तक Hints For Self-culture अर्थात् 'आत्मोन्नति के संकेत' एक अत्यन्त उपयोगी और विद्वतापूर्ण ग्रंथ है। यह पुस्तक १९३४ में लन्दन में प्रकाशित हुई थी। कुछ विद्वानों का मत है कि आधुनिक काल के सामाजिक,

नैतिक, ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओं पर प्रकाश डालने के लिए अपने विषय की सर्वश्रेष्ठ रचनाओं में से यह एक है। इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद "आत्म-सुधार" के नाम से दिल्ली के पं० चन्द्रशेखर शास्त्री ने प्रकाशित किया है। लालाजी की इस पुस्तक को पढ़ कर आपको एक झलक मिल जायेगी कि उनका ज्ञान-भंडार कितना विस्तृत और अगाध था। उनकी लेखनी में प्रवाह था और उनका तर्क अकाट्य होता था। उनके प्रत्येक शब्द से उनकी प्रतिभा टपकती है। इस पुस्तक की तनिक सी प्रस्तावना में स्वयं हरदयाल जी ने लिखा है कि :—

"इस पुस्तक में कारणवाद या तर्कवाद (Rationalism) के सन्देश के कुछ पहलुओं को समझाने और उनकी ओर समस्त देशों के युवक और युवतियों का ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न किया गया है। यदि इसके द्वारा उनके आत्मोन्नति के प्रयत्नों में किंचित मात्र भी सहायता हुई तो मैं अपने को पूर्णरूप से पुरस्कृत समझूँगा।

"मैं अपने तर्कवादी भाइयों का आभारी हूँगा यदि वे इस ओर अपने विचार प्रकट करेंगे और मेरे विचारों की आलोचना करेंगे।

"जो लोग अंग्रेजी में पुस्तकें पढ़ना चाहें उनसे मैं जे० एम० रावर्टसन की अति उत्तम और अनिवार्य पुस्तक "Courses of Study" की सिफारिश करूँगा।"*

इस पुस्तक की विषय सूची को देखने से ही पाठक को पता चल जायेगा कि लालाजी का अध्ययन कितना अगाध था।

*यह भूमिका लालाजी ने लंदन में अप्रैल सन् १९३४ में लिखी थी।

इस पुस्तक के चार विभाग हैं। प्रथम बौद्धिक विभाग में भौतिक विज्ञान, इतिहास, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, दर्शन-शास्त्र, समाज-शास्त्र, भाषा विज्ञान और समस्त धर्मों का तुलनात्मक विवेचन है। प्रत्येक अध्याय की सामग्री ऐसे सुन्दर ढंग से लिखी गई है, मानो किसी विशेषज्ञ ने लिखी हो। दूसरे भाग में शारीरिक स्वास्थ्य के सम्बन्ध में ऐसी अधिकारपूर्ण बातें लिखी गई हैं मानों हमें कोई सुयोग्य वैद्य शरीर-रक्षा की सलाह दे रहा है। तीसरे भाग में सौन्दर्य-शास्त्र के समस्त अंगों जैसे, कला, स्थापत्य, चित्रकला, मूर्ति निर्माणकला, संगीत, नृत्य, वक्तृत्वकला और कविता आदि की विशद व्याख्या की गई है। चौथे भाग में नैतिक संस्कृति का वर्णन है। इसमें व्यक्तिगत नैतिकता, सेवा, अर्थात् नागरिक शास्त्र और राजनीति पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। इस पुस्तक में जीवन के प्रत्येक पहलू पर दृष्टिपात करके इसे सुयोग्य लेखक ने ज्ञान की पिटारी बना दिया है।

इस पुस्तक के प्रारम्भ में जनसत्तावाद पर लिखते हुये लाला हरदयाल जी लिखते हैं—

"जनसत्तावाद की स्थापना उस समय होती है जब प्रत्येक युवा स्त्री और पुरुष राज्य के कामों में भाग लेता है, सारे प्रश्नों और समस्त तदबीरों को अपने वोट के द्वारा निश्चित और निर्धारित करता है। और इस प्रकार अब्राहाम लिंकन के आदर्श, "जनता की सरकार, जनता के द्वारा और जनता के लिए" को व्यवहारिक रूप देता है।

"समस्त नागरिकों को गवर्नमेंट में उसी प्रकार हिस्सा लेना चाहिये जिस प्रकार सब लोग काम करते हैं और सम्पत्ति उत्पन्न करते हैं; राज्य-कार्य चलाने के लिए सब कोई अपना हिस्सा देता है। सबको पूर्ण रूप से शिक्षित होना चाहिये और पब्लिक मामलात पर वादविवाद करना चाहिये। जो कानून

बनेंगे उनका प्रभाव सब पर पड़ेगा; सब लोग बुराई, टेक्स की अधिकता और अत्याचार को रोकने का प्रयत्न करेंगे; सब लोग आर्थिक उन्नति, स्वतन्त्रता और जीवन-रक्षा का सुख भोगेंगे. सबको अच्छी गवर्नमेंट से लाभ होगा और बुरी सरकार और अन्याय से हानि होगी।"

४—उनकी चौथी और कदाचित् अन्तिम पुस्तक Twelve Religions & modern Life अर्थात् 'बारह मजहब और आधुनिक जीवन' संसार के धर्मों का निचोड़ है। इसका उर्दू अनुवाद "इन्सानियत और मजाहब" के नाम से लाहौर से प्रकाशित हो गया है। इसमें ईसाई मत, बुद्ध धर्म, इस्लाम, पारसी मत, शिन्टो मत और हिन्दू धर्म का ऐसा सुन्दर संग्रह है कि पढ़कर तबीयत फड़क उठती है। सभी धर्मों की मुख्य-मुख्य बातों का ऐसा बढ़िया संकलन किया गया है कि किसी धर्म का कोई भी सिद्धान्त छूटने नहीं पाया और सबकी समान बातों को एकत्रित करके लेखक ने गागर में सागर भर दिया है।

लाला हरदयाल कई भाषाओं के केवल ज्ञाता ही न थे, बल्कि हिन्दी, उर्दू संस्कृत और फारसी के अतिरिक्त अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन और स्वेडिश भाषा में धारा-प्रवाह बोल लेते थे और प्रायः इन सब भाषाओं के पत्रों में लेख भी लिखते थे। वह तो विलक्षण पुरुष थे। उपर्युक्त भाषाओं को अच्छी प्रकार जानते हुये उन्होंने ग्रीक और एस्परैंटो का अध्ययन भी शुरू कर दिया था। किन्तु वह दैवगति से पूरा न हो सका। लाला लाजपतराय के पत्र People के १९२६ के अप्रैल मास के अंक में 'एस्परैंटो' पर उन्होंने एक बड़ा सुन्दर लेख लिखा था। लेख का शीर्षक था For & Against Esperanto अर्थात् 'एस्परैंटो के पक्ष और विपक्ष में' थे उनकी प्रत्येक पुस्तक और प्रत्येक लेख से उनका विशाल अध्ययन और प्रकांड पांडित्य प्रकट होता है। साहित्य

धर्मशास्त्र, इतिहास, समाज-शास्त्र, दर्शन, राजनीति आदि अनेक विषयों में उनका समान अधिकार था। उन्होंने इङ्गलैंड, फ्रांस, अमेरिका, जर्मनी, स्वेडन, टर्की, हवाई, वेस्टइन्डीज आदि देशों में रह कर संस्कृति, नैतिक और सामाजिक समस्याओं का खूब ही अच्छा अध्ययन किया। अपने जीवन के अंतिम दिनों में वह सारे मानव समाज को एक ही समझने लगे थे और सारी दुनियाँ को एक राष्ट्र के रूप में लाने के पक्षपाती हो गये थे। इन दिनों उनका सारा प्रयत्न मानव-जीवन के अभ्युत्थान के लिए होता था और इस सम्बन्ध में उन्होंने बहुत कुछ काम भी किया था।

लाला लालचन्द 'फलक' द्वारा प्रकाशित पुस्तक "खयालात लाजपत" की भूमिका में स्वयं हरदयालजी ने लिखा था कि "लाला लाजपत राय के जेरसाया रह कर काम करना मैं बायसे फख्र समझता हूँ किन्तु सूरत में आपका गुलामों की वर्दी पहनना ( अर्थात् नरमों की कान्फरेन्स में शामिल होना ) आप की शान के खिलाफ था।' किन्तु लाला लाजपतराय जी अपनी पुस्तक 'यंग इण्डिया' में उनके विषय में लिखते हैं :---

"लाला हरदयाल अद्भुत पुरुष हैं। उन्होंने पवित्रता पूर्वक जीवन बिताया है, और दूसरों से भी उन्हें वैसी ही आशा होती है। वे एक विचित्र प्रकार के आदर्शवादी हैं। उनका जीवन अत्यन्त सादा है और अपने प्रति दूसरों की सम्मति की वे कोई परवा नहीं करते। वे दूसरे किसी से उपकार की अपेक्षा न करते हुये भी दूसरे के उपकार के लिए तत्पर रहते हैं। उनके लाखों स्वदेशवासी, जिनमें से बहुत उनसे भिन्न मत के भी हैं, उनके प्रति अनन्य स्नेह और श्रद्धा के भाव रखते हैं।"

इन पंक्तियों के लेखक को भी देश के बड़े और छोटे नेताओं से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। किन्तु लाला हरदयाल

सरीखा तेज, प्रतिभावान और प्रखर बुद्धि का मनुष्य नहीं देखा। अंग्रेजी में जिसे Genius कहते हैं वह वास्तव में हरदयाल जी थे। अपनी तर्कयुक्त बातचीत से वह बड़ों-बड़ों का मुँह बन्द कर देते थे। एक बार उन्होंने अपनी वाक्पटुता से लाला लाजपतराय जी के समान महापुरुष को लाजवाब कर दिया था। यह आँखों देखी घटना है।

अपने आक्सफोर्ड के मित्र पं० जगमोहन नाथ चक के जरिये से हरदयाल जी सन् १९०८ में कानपुर आये थे और २२ दिन यहां पं० जगमोहन के पिता पं० पृथ्वीनाथ के मकान में ठहरे थे। एक दिन शाम को भगवतदास के घाट के रास्ते में उनसे मेरी भी भेंट हो गई। घुटनों तक ऊँची धोती बाँधे, ऊँचा-सा कुर्ता पहने, कन्धे पर एक डण्डे के ऊपर धोती लटकाये तीन-चार साथियों के साथ गप शप करते हुये आप जा रहे थे। सिवा ऐनक के बाकी सारी वेश-भूषा बक्स देहातियों की-सी थी। उन्हें देखकर कोई नहीं कह सकता था कि यही महापंडित हरदयाल हैं जो विलायत से अभी हाल ही में लौटे हैं।

परिचय होने के दूसरे ही दिन मैं हरदयाल जी के ठीहे पर पहुँचा। काफी देर तक इधर-उधर की बातचीत होती रही। बात-चीत में मालूम हुआ कि हरदयालजी लाहौर में एक आश्रम खोलने वाले हैं और उसीके लिए वह उत्साही युवकों को पढ़ना छुड़ा कर अपने पास कानपुर में जमा कर रहे थे। मिस्टर (अब डाक्टर) ताराचन्द, पंजाब के श्री परशुराम और दिल्ली के श्री गोविन्द प्रसाद आकर आश्रम में जाने के लिये कानपुर में ठहरे हुये थे। यहाँ सारे दिन पठन-पाठन और राजनीति की चर्चा रहती थी। हरदयाल जी की बात-बात में उनका अपार ज्ञान दिखलाई देता था। उनकी शैली तर्कपूर्ण और निराली थी। His conversation grave or gay

was pervaded by a natural charm बात चाहे हँसी की हो और चाहे गम्भीर उसमें स्वाभाविक मनमोहकता होती थी।

मैंने अपने जीवन के जो २२ दिन हरदयाल जी के साथ बिताये उन्हें मैं अपने सब से अच्छे दिन समझता हूँ। यह मेरा अहोभाग्य था जो ऐसे महापुरुष के साथ मेरे कुछ दिन व्यतीत हुये। उनका मज़ाक भी राजनैतिक होता था। एक दिन मुझसे कहा "बस आपको इंडियन महासागर के टापुओं का गवर्नर बना दिया।" दूसरे दिन कहने लगे कि "अफ़गानिस्तान पर हमारा साम्राज्य होते ही वहाँ श्रीमती गायत्री देवी वैसे ही उपदेश करने जाया करेंगी जैसे हमारे यहाँ मिसेज़ बीसेन्ट आई हैं। अफ़गानिस्तान के पढ़े-लिखे लोगों को शास्त्र-विशारद और विद्या-वारिधि की उपाधियाँ दी जाया करेंगी।"

इन पंक्तियों के लेखक ने एक दिन हरदयाल जी से अपना एक चित्र उतरवाने का आग्रह किया। उन्होंने कहा चित्र की कोई जरूरत नहीं है। अगर मैं उनको भूल जाऊँगा तो मैं इस योग्य नहीं था कि मेरे पास उनका चित्र रहे, और अगर नहीं भूलूँगा तो चित्र की कोई आवश्यकता नहीं थी। अतः उन्होंने चित्र नहीं खिंचवाया। यह थी उनकी नम्रता और चुपचाप काम करने की भावना। इस भावना और उन स्वयम्भू नेताओं के कार्य में कितना अन्तर है जो स्वयं अपना चित्र खिंचवा कर और यदाकदा ब्लाक बनवाकर समाचारपत्रों में छपने के लिये भेजते हैं। त्याग, तपस्या और वाहवाही से बचना ही मनुष्य की महत्ता का द्योतक है।

लाला हरदयाल जी रामायण पढ़ने के बड़े शौकीन थे और अपनी मित्र मंडली में अक्सर बांचा करते थे। किन्तु रामायण का अर्थ करने में देश और विदेश की सारी राजनीति पर आलोचना करते जाते थे।

लाला हरदयाल को केवल देशभक्त समझना भूल होगी। वह तो मानव-समाज के भक्त थे, संसार के पीड़ितों के परम मित्र थे और उन्हें मनुष्य मात्र की भलाई का ध्यान रहता था। एक दिन कहने लगे कि "भाई ! अगर हिन्दुस्तान में स्वराज्य होता तो मैं इङ्गलैंड से भारत आने के बजाय रूस जाता और वहाँ के निवासियों की सेवा करता। वहाँ के लोग बड़े दुःखी हैं।" यह बात सन् १९०८ की थी।

उनके जिस वाक्य ने मेरे जीवन का पथ-प्रदर्शन किया है, वह था—I love not life, I love not its pleasures, I obey only my conscience. अर्थात् न तो मुझ जीवन से प्रेम है और न उसके सुखों से, मैं तो केवल अपने अन्तःकरण की वाणी की आज्ञा पालन करता हूँ।

यदि आज हम अपने अन्तःकरण की वाणी को सुनने लगें, तो हमारे बहुत से कष्ट स्वयं दूर हो जायें और हममें जो दुराचार, भ्रष्टाचार, ईर्ष्या, द्वेष और स्वार्थ भाव फैला हुआ है, वह काफूर हो जाये। भगवान हमें अपनी आत्मा की आज्ञा पालन करने की सद्बुद्धि दे।

—नारायणप्रसाद अरोड़ा

## विषय-सूची



लाला हरदयाल
( स्वदेश में—सन् १९०८ )

# स्वाधीन विचार

## भाषा और जाति का सम्बन्ध

एक विद्वान् का कथन है कि भाषा बिना कोई जाति जीवित नहीं रह सकती। भाषा ही किसी भी जाति की एकता का एक मात्र आधार है और भाषा ही जाति के पुरुषों में परस्पर प्रेम और व्यवहार का सम्बन्ध स्थापित करती है। भाषा ही के द्वारा एक मनुष्य दूसरे मनुष्य पर अपने भाव प्रकट कर सकता है। बात तो यह है कि बिना भाषा के आश्रय किये क्या कोई मनुष्य आनन्द से जीवित रह सकता है? नहीं। अपने जन्मस्थान को, जिस के जल-वायु को सेवन कर हम पलते हैं, हम अपनी मातृभूमि कह कर प्यार करते हैं। उसी प्रकार हमें अपनी भाषा को भी, जो कि हमारे जातीय जीवन का एक स्तम्भ है, मातृभाषा कह कर गद्‌गद् होना चाहिये।

हिन्दू सदैव से उन चीज़ों को बड़ा समझते आये हैं जिनसे मानव जाति का किसी न किसी अंश में उपकार होता आया है। गौ, गंगा और भारत भूमि को वे माता के नाम से पुकारते हैं। फिर हम अपने सब सुखों की जननी अपनी हिन्दी भाषा को मातृभाषा कह कर क्यों न पुकारें? यदि किसी शक्ति के द्वारा हम से अपनी भाषा छिन जावे तो हमारी कैसी दुर्दशा होगी, इस बात के विचारने से ही दुःख होता है

क्योंकि प्रत्येक जाति की धर्म्म सम्बन्धी बातें, नीति, विज्ञान उसकी भाषा ही में रहते हैं। भाषा बिना हम जीवित नहीं कहला सकते। संस्कृत भाषा और हिन्दी भाषा में जो रत्न भरे पड़े हैं उनको हम बिना भाषाओं के जाने कैसे जान सकते हैं? जो जाति अपने पुरुषाओं के चरित्र और अपने भूतकाल को नहीं जानती वह जड़ से उखड़े हुए वृक्ष के समान है। जब पिता पुत्र को अपनी भाषा पढ़ाता लिखाता है तब ही वह पितृऋण से मुक्त होता है। भाषा के द्वारा हम अपने पूर्व पवित्रात्मा पुरुषों का जीवन देख सकते हैं और उनके सदृश ही अपने जीवन को ढाल सकते हैं। सच तो यह है कि अपनी मातृ-भाषा के साहित्य भण्डार को बढ़ाना पूर्व पुरुषों को उतना ही शान्ति और सुखकारक है जैसा कि उनका श्राद्ध करना बताया जाता है।

उपर्युक्त कारणों से ही जो जाति जीवित है वह अपनी भाषा के लिये झगड़ती है और मातृभाषा को जीवित रखने का पूर्ण उद्योग करती है। गिरी पड़ी जातियाँ भी इस उन्नति के सूत्र को समझती हैं और मातृभाषा के लिये कुछ न कुछ उद्योग करती रहती हैं। वे "धर्म्म" के समान अपनी भाषा की भी रक्षा करती हैं। संसार के इतिहास में ऐसी जातियों के कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं। बूर गवांर किसानों ने अपनी स्वाधीनता और सर्वस्व खो दिया है परन्तु अपनी मातृभाषा के बोलने का स्वत्व नहीं छोड़ा। उनकी भाषा ही वहाँ के दफ्तरों में लिखी पढ़ी जाती है।

अंग्रेजों का यह अभिमान के साथ कथन है कि उनके युवा केवल एक ही भाषा को अच्छी तरह बोल सकते हैं और वह भाषा उनकी मातृभाषा अंग्रेजी ही है। यह उनका वचन स्वजात्याभिमान और देशभक्ति से कैसा परिपूर्ण है। संसार

के इतिहास में यह बात देखी गई है कि जब एक जाति दूसरी पर जय लाभ करती है तो विजेता जाति विजित जाति की भाषा की कमर तोड़ने में भी कमी नहीं करती और इसीलिए अपनी भाषा का आधिपत्य दूसरी जाति की भाषा पर जमाती है कि विजित जाति अपनी भाषा को खोकर अपनी भूतकाल की प्राप्त कीर्त्ति और यश को भूल जावे। सिकन्दर ने जिन जिन देशों पर जय लाभ किया उन उन देशों में ग्रीक भाषा का प्रचार किया। ऐसा ही रोम वालों ने भी अपनी बढ़ती के समय किया था। अंग्रेजों ने आयरलैंड में अंग्रेजी स्कूल, कालेज खोल कर यही चाल चली थी। भारत में भी अंग्रेजी के प्रचार ने हमारी मातृभाषा को और जातीय जीवन को बड़ी हानि पहुंचाई है, क्योंकि भारत में जिधर देखते हैं उधर ही अंग्रेजी भाषाजनित सभ्यता दीख पड़ती है।

भारतवासी अपनी मातृभाषा हिन्दी से बड़े पराङ्मुख हुए हैं। उन्हें किसी भले आदमी के नाम के आगे मिस्टर लगाना महत्व सूचक जँचता है। क्लब और दवाईखानों के नाम भी अंग्रेजी में धरे जाते हैं। बाजारों में, किताबों में, अखबार पत्रों में अपनी घरेलू लिखा पढ़ी में सारांश यह कि सब स्थानों में अंग्रेजी का आदर किया जाता है। एक पंजाबी को युक्तप्रदेशवासी अपने उच्च विचार समाचारपत्रों द्वारा सात हजार मील की भाषा में समझा सकता है, अपनी देश भाषा में नहीं। हाय, यह कैसी बुरी बात है।

यदि नारद जी महाराज आजकल भारत में भ्रमण करते आ निकलें तो हम को अपनी सन्तान कहने में वह सकुचा जायँगे। और तो और हमने अपनी मातृभाषा हिन्दी भी छोड़ दी। नारद जी हमें शायद भांड जाने। इसमें दोष चाहे किसी और का भी हो किन्तु बड़ा दोष हमारा है, जिन्होंने अपनी

मातृभाषा का पूजन त्याग दिया है। सरलता, शुद्धता, और पूर्णता में हिन्दी भाषा की बराबरी दूसरी भाषा नहीं कर सकती। मातृभाषा को भूलना कृतघ्नता है। स्मरण रक्खो जिस का भाषा-साहित्य नष्ट हो जाता है वह जाति भी नष्ट हो जाती है। प्रकृति का ऐसा ही नियम है। मातृभाषा का आदर करो और अपने हृदय पर बैठाओ।

---

## धर्म-प्रचार

ईसाई मत की सफलता का मुख्य कारण उसके प्रचारकों का अदम्य उत्साह है। कितने ही उनमें विद्या-योग्यता में प्रसिद्धता प्राप्त किये हुए पुरुष होते हैं। यदि हमें ऐसे कार्य करने वाले प्राप्त हो जावें तो हम २० वर्ष में बहुत कुछ दुनिया को हिन्दू बना सकते हैं। मुझे बिलकुल ऐसे ही उत्साही पुरुष दीजिये, मैं दुनिया को हिन्दू बना दूंगा। असत्य भी प्रचार पा सकता है यदि उनके प्रचारक असत्य के प्रचार करने के लिये वास्तविक उद्योग करें। हिन्दू धर्म और कीर्ति के सच्चे प्रचारक यदि मुझे मिल जावें तो मैं यह कह सकता हूँ कि यूरोप के नगरों में रामलीला का दृश्य दिखला दूंगा। मैं जानकी जी की मूर्ति वहां के चौराहों पर सुप्रतिष्ठित करा दूंगा।

मुझे वैसा उत्साह, कार्य करने की वैसी दृढ़ता दीजिये फिर आप देखेंगे कि मिसिसिपी के तट पर हमारे ऋषियों की ऐसी ही पूजा होती है जैसी कि यहां गङ्गा के तट पर होती है। हिन्दुओं को ऐसी सफलता प्राप्त होनी कुछ असम्भव नहीं है यदि उनमें दुनिया भर को हिन्दू बनाने का अदम्य उत्साह उत्पन्न हो जावे।

हिन्दुओं का अपने धर्म्म-कर्म्म की बातों से कोरा रहना

भी ईसाई लोगों की सफलता का एक मुख्य कारण है। गंगा स्नान से पाप दूर होने की बात को ईश्वर ही जानता है किन्तु क्यों नहीं देशहितैपिता के प्रेम में गंगा-स्नान करते। गंगा हिन्दू जाति की बड़ी नदी है। इसके चारों ओर हमारा सामाजिक जीवन है। गंगा अपनी सुन्दरता में उपमा नहीं रखती। गंगा हमारे प्रचीन तपस्वियों की सहचरी है। इसलिए जो मनुष्य अपनी पूर्व कीर्त्ति को प्यार करते हैं उन्हें गंगा को प्यार करना चाहिये। गंगा में ही हमारे जगत् प्रसिद्ध पूर्वजों की भस्म डाली गई थी। हम उन्हीं के खून और हड्डी से उत्पन्न हैं। हम उस गंगा जल को पीते हैं जिसमें हमारे पुरुषाओं के शरीर अगणित पीढ़ियों से मिले हैं। गङ्गा हमारा अपने पूर्वजों से स्वर्ण शृंखला द्वारा सम्बंध और एकता स्थापित करती है।

भारतवासियों में देशभक्ति और आत्मसम्मान की कमी है। इस कारण भी पादरियों ने सफलता प्राप्त की है। पाश्चात्य पदार्थविज्ञान के आविर्भाव के साथ-साथ हिन्दू अपने जातीय धर्म्म को प्यार करने में कमी करने लगे। यहां तक कि वे अपने बच्चों को ईसाइयों के पंजों से बचाने का ज़रा भी यत्न नहीं करते। स्वार्थ ने उनके सदाचार को ग्रस लिया और विषय विलास उनके सिर पर सवार हो गया। हमारे धनाढ्यों में नशेबाज़, आपस्वार्थी, नीच प्रकृति, धोखेबाज़ और धार्म्मिक बातों में उदासीन कम नहीं हैं। परन्तु अब भी ईसाई धनाढ्य अपने प्रचारकों को सब तरह का सुभीता देते हैं। यहाँ की धर्म्मसभाएं वैतनिक उपदेशक भी नहीं रख सकतीं।

हमारे देश के शिक्षित युवा अपनी विद्यायोग्यता को सरकार से कुछ रुपये लेकर दे डालते हैं या वकालत करके अपना लक्ष्मी-भाण्डार बढ़ाते हैं। क्या वे नहीं जानते कि तमाम सभ्य दुनियाँ के लोगों की दृष्टि में वे क्या चीज़ हैं ? वे उनको

नीच और लोभी प्रकृति के पुरुष समझते हैं क्योंकि वे अपने तुच्छ स्वार्थ के लिये अपनी सब से प्यारी चीज़ का नाश करते हैं।

हिन्दू बालकों का ईसाई स्कूल कालेजों में पढ़ना भी हिन्दू जाति की जड़ खोद रहा है। किसी पादरी साहब से पूछा जाय कि आपके सच्चे सहायक कौन हैं तो वे जवाब देंगे कि अंगरेज और अमेरिकन उनको स्कूल बनाने के लिये रुपया देते हैं किन्तु हमारा स्कूल खाली पड़ा रहे और हमारे ईसाई मास्टर चुपचाप बैठे रहें यदि हमारे स्कूल में पढ़ने वाले ही न आवें, इससे यही लोग सच्चे सहायक हैं। हिन्दू माता-पिता हमें अपनी सन्तान पढ़ाने को और अपनी मरज़ी के मुआफ़िक ढालने को सौंप देते हैं यही हमारे सच्चे मित्र हैं। इन्हीं के द्वारा हमारे सारे यत्न सफल होते हैं।

एक लज्जाजनक विषय और भी है कि हमारे अच्छे अच्छे ग्रेजुएट और वेद-शास्त्रज्ञ चन्दन-चर्चित पण्डित जी ईसाइयों को हमारे ईसाई बनाने में सहायता देते हैं। थोड़े से सिक्कों के कारण उनके नोकर बनते हैं। इस लेख का लेखक बड़ी मार्मिकता से पूछता है कि ये ऐसा महापातक क्यों करते हैं। क्या वे और ढङ्ग से अपना उदरपूर्ण नहीं कर सकते ? क्या वे मिशन की सेवा बिना किये दाल-रोटी से पेट नहीं भर सकते ? यदि वे बिना ऐसा किये अपना जीवन निर्वाह नहीं कर सकते तो उनके जीवन की भी हिन्दू जाति को आवश्यकता नहीं है। क्योंकि जिन से हिन्दू जाति का लाभ न हो उन का जीवन मरण समान है। यदि कोई इस पृथ्वी पर बिना अपनी जाति को हानि पहुँचाए जीवित नहीं रह सकता तो बेहतर है कि वह मर जावे ! जो पेट ऐसा कर्म्म करने को बाध्य करता है उस पेट का नाश होना अच्छा है बजाय इसके कि हिन्दू जाति

का नाश हो। यह जरूरी है कि रोटी के लिये श्रम करना पड़ता है परन्तु जो पुरुष ईमानदारी से रोटी नहीं प्राप्त कर सकता, बेहतर है कि वह इस दुनिया को त्याग दे।

---

# पंजाब में हिन्दी के प्रचार की ज़रूरत

पंजाब में हिन्दी के प्रचार की बड़ी जरूरत है। भारतवर्ष का यह भाग प्राचीन समय में वेद विद्या का अधिष्ठान था। धर्म्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र इसी भूमि में है। मंत्र द्रष्टा ऋषि इसी की नदियों के तट पर समाधि लगाये ध्यान में मग्न रहते थे। यहीं हिन्दू-जाति ने पहले पहल भारत को देखा और उससे सम्बन्ध बाँधा। पंजाब भारतवर्ष की ढाल है जिसने यवनों की अनेक चोटों से इस देश की रक्षा की। पंजाब ही में बली होकर हिन्दुओं ने सारे मुल्क पर अपना अधिकार जमाया। यह वही प्रान्त है जहाँ के शूरवीरों ने पुराने जमाने में, और सोलहवीं और सत्रहवीं सदियों में, हिन्दू जाति के मलिन मुख को विजयामृत के सेवन से विमल करके उस पर राज्याभिषेक का टीका लगाया।

हाय! इसी पंजाब की दशा इस समय शोचनीय हो रही है। विदेशियों के सम्पर्क से बहुत बातों में इसका हिंदुत्व शिथिल हो गया है। बंगाल और महाराष्ट्र की अपेक्षा पंजाब का हिन्दुत्व ऐसा ही है जैसे सच्ची लैस के आगे झूटी लैस; या खिले हुए कमल के सामने मुरझाई हुई पंखड़ियों का ढेर। जिधर देखो हिन्दू जाति की हीनता का सबूत मिलता है। सब तरफ़ घर में, बाजार में, साहित्य में, बोलचाल में, रूप रंग में, आचार-विचार में, हिन्दू जाति की असलियत को मिटा हुआ देखते हैं। हम पर विदेशी रोगन चढ़ा हुआ

है। हम अपने आपको भूल गये हैं। महात्मा मनु के अनुसार जैसे काठ का हाथी अथवा चमड़े का मृग केवल नाम ही के होते हैं, उसी तरह पंजाब के हिन्दू अपनी भाषा के लिहाज से नाम मात्र के हिन्दू हैं। वे भारतवर्ष में रहते हुए भी विदेशी कहलाने योग्य हैं। मैं इस अवसर पर और बातों का जिक्र न करूँगा मैं केवल भाषा के विषय में यह कहना चाहता हूँ कि अब समय आ गया है कि हम श्रीगणेश की प्रशंसा तुरकों के अक्षरों में न करें और अपनी पिछली गिरी हुई अवस्था के कलंक को सदैव तिलक समझ कर अपने माथे पर खुशी से न लगावें। जो मलीनता हमारे शरीर पर आपत्काल में आ गई थी उसको हिन्दुत्व के पवित्र सरोवर मे नहा कर धो डालें। जैसे शराबी नशे में तरह-तरह की लज्जाजनक बातें करता है, पर नशा उतर जाने पर उनसे शरमाता है, उसी तरह कमजोरी और आत्मविस्मृति के समय में जो अनुचित बातें हमने की थीं उनसे अब लज्जा आनी चाहिये। क्या जरूरत है कि दास आज़ाद होकर भी कान में गुलामी का छल्ला पहने रहे, या पहलवान, ज़मीन पर चित्त हो जाने पर कभी, पीठ की मिट्टी साफ़ न करे। हिन्दू जाति को धिक् है, जो दैवदुर्विपाक से प्राप्त हुई लज्जाजनक बातों को मौक़ा पाकर भी न छोड़े।

पंजाब अपनी भाषा को बहुत समय से भूल गया है। हिन्दुत्व के ज्ञान का दीपक उसे किसी ने नहीं दिखाया। परजातियों की आँखों के जादू ने इसे अन्धा बना दिया। विजित होने से इस पर आत्मविस्मृति का ऐसा नशा चढ़ा कि यह बहक-सा गया, अपने आपको कुछ का कुछ बतलाने लगा, बहुरूपियों का-सा खेल खेलने लगा। जैसे मालिक के उतरे हुए कपड़े पहन कर नौकर मटकते फिरते हैं, उसी तरह मुसलमान क़ौम के फटे पुराने साहित्य के चीथड़े चुनकर हिन्दुओं ने भी

अपनी भाषा को अलंकृत (!) करना आरम्भ किया। यह नहीं समझा कि दुनिया हमें क्या कहेगी। तुलसी और सूर के काव्य न पढ़ कर सौदा और मीर की तुच्छ ग़ज़लों पर ऐसे गिरे जैसे बच्चा माँ का पथ्य दूध छोड़ कर मिट्टी खाने दौड़ता है। फ़ारसी साहित्य की हम नक़ल उतारने लगे और अपनी पुरानी कमी कराई सब भूल गये। उर्दू के गद्य-पद्य में फ़ारसी शाइरों से मांग-मांग कर विदेशी अलंकार भरने लगे। नाटक का नाम तक बाक़ी न रहा। क़सीदों, मसनवियों, ग़ज़लों ने दोहों, चौपाइयों की जगह ली। हिन्दुओं की सारी लियाक़त, झूठे सिक्कों की तरह, उर्दू के रद्दी सिक्के हिन्द की टकसाल से निकालने में चली गई और कुछ फल न मिला। झूठा सिक्का जो बनाया, साहित्य के परखने वाले साहूकारों ने उसे परे फेंक दिया। विदेशी चीजें कूट-कूट कर अपने साहित्य में भरीं। नतीजा यह हुआ कि अपनी रीति तो याद न रही, मुफ्त में नक़लची और खुशामदी कहाये। न क़ाआनी ही बन सके न तुलसी न फ़ारसी ही लिखी न हिन्दी। एक मिश्रित भाषा जिसमें दोनों का मेल था, निकाली। मगर जैसे मनुष्यों में दोग़ले से सब नफ़रत करते हैं उसी तरह इस नये भूत से जिसका धड़ हिन्दी का और कपड़े तथा आवाज़ फ़ारसी के थे, सब समझदार आदमियों ने नफ़रत की। नमक और बूरा मिलाने से सिर्फ उलटी ही हो सकती है। मछली पानी के बाहर मर जाती है। अंगूर सर्दी में नहीं उगता। हर क़ौम अपने मुआफ़िक़ साहित्य की आबो हवा में ही तरक्क़ी कर सकती है। जब साहित्य हमारे मुल्क और क़ौम के अनुरूप न रहा तब वह हमारा न रहा। वह हमारी जाति का अंश नहीं। वह हमारे आदर का पात्र नहीं। वह हमारी दुर्गति की निशानी है और हमारी जातीय उन्नति के रोकने के लिये बलवान विघ्न है। वह गृह-सर्प है जो दगा करता है।

वह वेश्या है जो झूठे आभूषण पहन कर हमें अपनी कुल स्त्रियों से अलग कराती है। विदेशी रस से भरे हुए साहित्य को जो हिन्दू अपना समझते हैं वे हलाहल को अमृत मानते हैं। इससे बढ़कर हमारी अधोगति का और क्या चिन्ह हो सकता है कि आज हिन्दी भाषा, जब हिन्दुओं के आगे आकर अपनी पैतृक पदवी मांगती है, तब हिन्दू हिन्दी शकुन्तला के दुष्यन्त बनकर कहते हैं, हम तुझे नहीं जानते, हमने कभी तुझे नहीं देखा।

पंजाब में रोज़ की बोलचाल और लिखने पढ़ने में फ़ारसी मिश्रित उर्दू ही का दौरदौरा है। यहाँ हिन्दू लड़के फ़ारसी पढ़ते हैं। मदरसे में मौलवी साहब की जमाअत ऐसी भरी होती है जैसे थियेटर की रंगभूमि। पर बेचारे संस्कृत के अध्यापक का कमरा खंडहर की तरह सूना रहता है। यदि कोई भूले भटके वहां जाते हैं तो सिर्फ़ दो-चार। शोक है कि जिन लड़कों की क़ौम में बाल्मीकि और तुलसी हुए वे गुलिस्तां, बोस्तां के पढ़ने में इतना परिश्रम करें, और हितोपदेश का नाम भी न सुनें! किस क़ैदी को अपनी बेड़ियों से प्रेम हो सकता है? किस मनस्वी को अपनी मातृभाषा से घृणा हो सकती है? पर भारतवर्ष में सब बातें उलटी हैं। पंजाब के हिन्दुओं के नाम तक अनोखे होते हैं। "बलन्द-इक़बाल" हिन्दू कुल में उत्पन्न होते हैं और "तेग़बहादुर" तो हमारे माननीय गुरुजी ही का नाम था। पत्र में "जनाब क़िब्लेगाह साहब" से आरम्भ किया जाता है। गोया यमुना के तट पर अरब की गरम आँधी का झोंका आ गया। विवाह के बुलावे कई जातों में फ़ारसी में भेजे जाते हैं—गोया निकाह पढ़वाना है। कई हिन्दू सज्जनों के यहाँ मुसल्मान उस्ताद फ़ारसी पढ़ाने के लिए रक्खे जाते हैं और पण्डित जी महाराज! उनको सिर्फ़ गुरु-पूजा ही पर कुछ दक्षिणा मिल जाती है। जवान लड़के ग़ज़ल लिखते हैं और

कमल को भूल कर गुल पर मरते हैं। भीम की जगह रुस्तम की प्रशंसा होती है और काबा, मसीहा, वगैरह विदेशी शब्दों से गद्य-पद्य अलंकृत होता है। कहावतें भी कितनी ही ऐसी हैं कि सुन कर हँसी आती है और रोना भी। "ढाई ईंट की अलग मसजिद बनाना" "न खुदा ही मिला न विसाले सनम" वगैरा फिकरे सब की जबान पर हैं। यदि रामचन्द्र आज फिर दिल्ली में आवें तो हिन्दुओं को न पहचान सकें। वे आश्चर्य्य करें कि मैं भारतवर्ष में हूँ या कहीं और। उर्दू का हर घर में रिवाज है। लड़कियाँ भी हिन्दी पढ़ कर फिर उर्दू सीखना बहुत बड़ा काम समझती हैं। जैसे मीठी चीज खाकर खट्टी को जी चाहता है वैसे ही इनका हाल है। घर के हिसाब तक में घी, रौगन जर्द लिखा जाता है। और चिट्ठियों के ऊपर पते में "बखिदमत……बेरसद" आदि शब्द सारी दुनियाँ में हमारे अज्ञान की डौंडी पीटते हैं। राम राम और नमस्कार की जगह "बन्दगी" सुनकर कान बन्द करने को जी चाहता है।

स्त्रियों ने अपना जाति-धर्म हाथ से जाने नहीं दिया है। स्त्रियाँ सदा अपनी जाति के प्राणों की रक्षा करती हैं। क्यों न हो, प्राण देती भी तो वही है। हिन्दू स्त्रियाँ हिन्दी पढ़ना अपना मुख्योद्देश्य समझती हैं। उनके लिये अच्छी अच्छी पुस्तकें हिन्दी में लिखी जानी चाहिए जिसमें उनको उर्दू पढ़ने की जरूरत न रहे। भाइयो, इस त्रुटि को पूरा करो। स्त्रियों ही से हिन्दी के प्रेम की वृद्धि करो। कई समाजें पंजाब में ऐसी हैं जो हिन्दी प्रचार का कुछ काम कर रही हैं। आर्य-समाज इनमें मुख्य है। देव समाज के अनुयायी भी हिन्दी में ही व्याख्यान देते हैं। राधास्वामी वाले भी अपने मत के ग्रन्थ हिन्दी में ही लिखते हैं। इन सब समाजों और संप्रदायों से हिन्दी की कुछ कुछ उन्नति हो रही है। आर्य्य-समाज ने फ़ारसी

अक्षरों में बहुत से हिन्दी के शब्दों को स्थान दिया है। इससे जो हिन्दू हिन्दी नहीं जानते उन तक हिन्दुत्व की कुछ सुगन्ध पहुँच सकती है। इस हिन्दी मिश्रित उर्दू को ग़ालिब और ज़ौक़ के कलाम के चाहने वाले निरादर की निगाह से देखते हैं। परन्तु यह उनकी भूल है।

आजकल युवक विद्यार्थी दूर दूर कालिजों में पढ़ने जाते हैं। परन्तु अपनी स्त्रियों को घर पर छोड़ जाते हैं। उन्हें पत्र लिखना पड़ता है। हमारी स्त्रियाँ प्रायः हिन्दी ही जानती हैं। उन्होंने तो नौकरी के लिये अपना जाति धर्म बेचा नहीं। वे अब तक अपनी जाति-भाषा को रत्न की तरह छिपाये अंतःपुर में बैठी हैं कि कब पुरुषों की बुद्धि ठिकाने आवे और कब उनको वह अनमोल मोती फिर प्राप्त हो। क्यों न हो, वैसे भी तो घर की सम्पत्ति सोने चाँदी के रूप में स्त्रियों ही के शरीर पर रहती है। इस कारण नवयुवक बाबू साहबों को हिन्दी पढ़नी पड़ती है जो काम वे गुरु के कहने से न करते थे वह स्मर-शासन करवा लेता है। सच है, सब तो त्रिलोचन नहीं हैं जो फूल के धनुष वाले को भस्म कर दें। अतएव जितने विद्यार्थी दूर देश में जायँगे उतना ही हिन्दी का प्रचार अधिक होगा।

इस प्रकार हिन्दी धीरे-धीरे फैल रही है। पर इस जनवासे की चाल से विशेष लाभ न होगा। जब तक कचहरियों और दफ्तरों में उर्दू अधिकार के सिंहासन पर बैठी है और हिन्दू लोग संस्कृत पढ़ना अपना धर्म नहीं समझते, तब तक हिन्दी की यथार्थ उन्नति न होगी। एक और बात भी विचार योग्य है। बहुत से आदमी मुँह से तो हिन्दी के प्रेमी बनते हैं, पर कोई किताब या लेख लिखने के समय उससे मुँह छिपाते हैं। यह दोष हिन्दी के बड़े बड़े भक्तों तक में पाया जाता है। जब हिन्दी के पक्षपाती ही ऐसा करेंगे तब औरों से क्या आशा

की जाय ? जबानी बातों से कहीं काम चलता है ? पंजाब में है उर्दू का प्रचार। इससे उर्दू ही की पुस्तकों के ग्राहक अधिक हैं। जब लेखक साहित्य के मैदान में आते हैं तब देश प्रेम तो हिन्दी की ओर घसीटता है और द्रव्य-प्रेम उर्दू की ओर। इस दुविधा में महामाया लक्ष्मी ही की जीत होती है। फिर यह भी विचार होता है कि अपने सिद्धान्त उर्दू में, अधिक लोगों के पास पहुँचेंगे। इससे वे अपनी विचार-सुगन्धि को तांबे के पात्र में रखते हैं, क्योंकि सोने का पात्र लोगों को पसंद नहीं। इससे बेचारी हिन्दी के गले में छुरी फिरती है। लाला लाजपत राय जी ने उर्दू में कई महापुरुषों के जीवन-चरित लिखे हैं। और आर्य-समाज कालिज के एक महाशय ने आनन्दमठ का बंगाली से उर्दू में अनुवाद किया है। यदि इसी तरह हमारे हाथ और कलम उर्दू की सेवा में तत्पर रहे तो पंजाब में हिन्दी का प्रचार होना दुःसाध्य होगा। हमको दूरदर्शी होना चाहिये। और हर प्रयत्न से, सब विघ्न-बाधाओं को उल्लंघन करके हिन्दी लिखना-पढ़ना सीखना चाहिए, हिन्दी बोलना चाहिए और हिन्दी ही में पुस्तक-रचना करनी चाहिए। ऐसा न करना अपनी जाति को दुर्बल करना है, अपने हाथ से अपनी जड़ें खोदना है, हिन्दुत्व पर धब्बा लगाना है।

---

# अमरीका में भारतवर्ष

इस पत्र के पाठकों में से बहुत ही थोड़े ठीक रीति से यह जानते होंगे कि भारतवर्ष के पुत्र चुपचाप इस सत्कारशील अमेरिका में क्या उत्तम कार्य कर रहे हैं। भारतवर्ष के साधारण लोग अमेरिका को वाशिंगटन और इमर्सन के जन्म-देश तथा "नीग्रो" लोगों की दौर्भाग्य-भूमि के रूप में ही जानते हैं।

धार्म्मिक प्रवृत्ति रखने वाले कुछ नौजवानों के हृदय में, स्वामी विवेकानन्द के नाम के साथ भी अमेरिका सम्बद्ध हो सकता है। परन्तु बहुत ही थोड़े लोग यह जानते हैं कि इस देश में बिखरे हुए हिन्दुओं के छोटे-छोटे समूह अपने देश की क्या भलाई कर रहे हैं। आज मैं यही दिखलाना चाहता हूँ कि यहाँ रहने वाले हिन्दू अब तक क्या कर चुके हैं और वे आगे क्या कर सकते हैं। मैं समझता हूँ कि सारे संसार में केवल एक अमेरिका ही ऐसा देश है जहाँ से एक एकान्तवासी हिन्दू यात्री, अपने देश वासियों के लिये आशा और उत्साह से पूर्ण संदेशा भेज सकता है।

पश्चिमीय देशों में से अमेरिका सब से अधिक भारतवर्ष के साथ अनुराग रखता है और इसी कारण भारत के हृदय में भी इस आशा और स्वतंत्रता की भूमि के लिये प्रेम का होना स्वाभाविक ही है। जिस प्रकार एक बच्चा अपने पितामह की गोद में खेलना पसंद करता है, उसी तरह नई सभ्यता के पक्षपाती देशों में से सब से अल्पवयस्क और नवजात यह जाति भी सबसे पुरानी सभ्यता की बूढ़ी माता भारत भूमि का ध्यान करके प्रसन्न होती है। कालचक्र ने एक पूरा चक्कर समाप्त कर लिया है, और आने वाले समय की स्वामिनी जाति उस जाति की ओर प्रेम भरी दृष्टि से रखती है जो पुराने खजानों की रक्षा कर रही है। यह कैसी सुहावनी परिस्थिति है। ऐतिहासिक घटनाओं का यह मेल मन में कैसे-कैसे भाव उत्पन्न करता है।

और देशों के लोग भारतवर्ष को अंग्रेजों के धन कमाने की भूमि समझते हैं। वे हिन्दुओं के प्रति दया या दुःख का भाव प्रकाशित कर सकते हैं, परन्तु उन्हें कोई भी कहीं पसंद नहीं करता। ऐसी अवस्था में उनसे प्रेम करने या उन पर भक्ति रखने का तो विचार भी नहीं हो सकता। अंग्रेजी झंडे के नीचे उनका

कोई गौरव नहीं क्योंकि घर के नौकरों में उनकी गणना है। एक अंग्रेज कभी भी नहीं भूलता कि हिन्दू उसकी प्रजा है। अंग्रेजी बस्तियों में आर्थिक हेतुओं के कारण वे डरावने समझे जाते हैं और कई अन्य कारणों से उन पर मुकद्दमे चलाये जाते हैं और लज्जित किया जाता है। फ्रांस देश के निवासी भारतवर्ष के विषय में कुछ अधिक जानने का कष्ट नहीं उठाते। वे भारतवर्ष को ऐसी चीज समझते हैं जिसे दौर्भाग्यवश अंग्रेजों ने उनसे छीन लिया था, और अब भी "भारतवर्ष का छिनना" जैसा शीर्षक उनके विद्यालयों की ऐतिहासिक पाठ्य पुस्तकों में पाया जाता है। मार्सेल ( फ्रांस का एक बन्दरगाह ) के बोझ उठाने वालों को छोड़कर ( जिनके पास उन हिन्दुओं की उदारता का गुणगान करने के लिये पर्याप्त कारण हैं जो कुछ कम्पनी की अधीनता में उनके देश में से होते हुए यथासम्भव शीघ्र ही लंडन पहुँचने का प्रयत्न करते हैं ) फ्रांस वासी हिन्दुओं को बहुत कम देखते हैं।

हमारे अधिकतर देशवासियों की फ्राँसीसी भाषा से अनभिज्ञता भारत और फ्रांस में एक और भी दीवार खड़ी कर देती है, क्योंकि फ्राँसीसियों से हमारी दशा जानने के लिये हिन्दी सीखने की आशा रखना निरर्थक है। संस्कृत पढ़ने से जर्मनी के लोगों में हमारी प्रतिभा शक्ति पर भक्ति उत्पन्न हो गई है। मुझे एक बार यह देख कर आश्चर्य हुआ कि एक साधारण शिक्षा-प्राप्त किये हुए जर्मनी वासी ने भी "शकुन्तला" का अनुवाद पढ़ा हुआ था। किन्तु जर्मनी के लोग हिन्दुओं को प्रत्यक्ष रूप से बहुत कम देख पाते हैं। कुछ ही नगरों में थोड़े से हिन्दू विद्यार्थी और व्यापारी रहते हैं। वहाँ के पढ़े लिखे लोग, निस्सन्देह, राजनैतिक कारणों से, भारतवर्ष के मामलों को गहरी दृष्टि से देखते हैं। मुझे विश्वास है कि

यदि जर्मनी के लोग हमारे विषय में अधिक जान सकें तो वे अवश्य हमारे साथ स्नेह करने लगेंगे। परन्तु यहाँ भी भाषा भेद ही एक दूसरे को दूर रखता है। इस समय यह बड़ी आवश्यकता है कि कुछ शिक्षित भारतवासी योरोप की प्रधान प्रधान भाषाओं का अनुशीलन करें जिससे उनकी यात्रा बम्बई से लंडन तक ही परिमित न रह जावे।

अमेरिक में सारी अवस्था ही बदल जाती है। अमेरिका का भारतवर्ष के साथ कोई व्यापार सम्बन्धी या राजनैतिक सम्बन्ध नहीं है। उसे हमारे यहाँ की रुई या बग़दाद रेलवे से कोई सम्बन्ध नहीं हैं, और न वह हमारे देश को महमूद से आरम्भ होने वाले लुटेरों का स्वर्गधाम या लंकाशायर के पूंजी वालों का मक्का ही समझता है। वह सूत्र जो हमें अमेरिका के साथ बाँधता है, राजनैतिक लोग या व्यापारी सोने की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट द्रव्य का बना हुआ है।

यहाँ मैं यह बतलाना चाहता हूँ कि अमेरिका और इङ्गलैण्ड में रहने वाले भारतवासियों के जीवन में बड़ा भेद है। वे भारतवासी जो पठन, स्वास्थ्य, नौकरी, विषय-भोग या राजनैतिक दम्भ के लिये इंगलैण्ड में रहते हैं, हमारे समाज के सर्वोत्तम भाग नहीं हैं।

दूसरी ओर, अमेरिका में रहने वाला हिन्दू समाज भारत माता के सर्वोत्तम पुत्रों से बना हुआ है। यहाँ "अफ़सरों" की कृपा बूँद के प्यासे आवारागर्द राजे महाराजाओं या भूखे "प्रेजुएटों" का कोई काम नहीं और न हमें यहां राजनैतिक आजीविका से जीने वाले ऐसे लोग मिलते हैं जिनकी देशभक्ति वहीं तक जाती है जहाँ तक उनके "पवित्र शरीर का बाल बाँका न हो" या उनकी संकुचित धन की थैली आज्ञा दे।

अमेरिका में रहने वाले भारतवासियों को चारश्रेणियों में

विभक्त कर सकते हैं जिनमें से तीन सहानुभूति-युक्त वर्णन के पात्र हैं। परन्तु चौथी श्रेणी उस स्थिर छाया के समान है जो इन तीनों श्रेणियों के वर्तमान कालीन भारतरूपी पर्दे पर पड़ रही है। अमेरिका में वर्तमान भारतीय समाज के साधारण अवयव सिक्ख, स्वामी और विद्यार्थी हैं। चौथा भाग गुप्तचरों का है परन्तु उन्हें हम असाधारण समझते हैं। बस इसी चार तरह के भारतवासी अमेरिका में रहते हैं। प्रसंगवश यह भी कह देना अच्छा होगा कि यहाँ हिन्दू नाम से सब भारतवासी समझे जाते हैं। इंडियन नाम से (जिस नाम से अंग्रेज लोग हमें पुकारते हैं) अमेरिका के आदिम निवासी पुकारे जाते हैं इसलिये मैं अशिष्ट 'इंडियन' शब्द की जगह (जो अंग्रेजों में हमारे लिये गढ़ा गया है) हिंदू शब्द का ही व्यवहार करूंगा। अमरीका के लोग भारतवर्ष की प्रत्येक चीज़ को हिन्दू के नाम से पुकारते हैं, जैसे—हिन्दू-संगीत, हिन्दू-वर्णमाला, हिन्दू-राजनीति, इत्यादि।

मैं पहिले गुप्तचरों के विषय में ही लिखता हूँ, ताकि उनसे छुट्टी पाकर औरों के विषय में अच्छी तरह लिख सकूँ। ये भ्रमणशील ठकाधर्मी कभी २ हमारी बस्तियों में मित्र के रूप में दर्शन दे जाते हैं और हमारे ऐसे रहस्यों का पता लगाना चाहते हैं जिनसे हम स्वयं भी अनभिज्ञ हैं। इनकी उच्छृङ्खल कल्पना शक्ति जिस व्यक्ति को अपना शिकार चुन लेती है, उसी पर इनकी कृपा आरम्भ होती है। यदि तीन श्रेणियों के लोगों को हम सौरचक्र के नियत अवयव समझें तो इन भद्र पुरुषों की उपमा पुच्छलतारों ही से दी जा सकती है। वे अनियत और कभी २ अज्ञात वृत्त में घूमते हैं, उनकी गति के नियम ढूंढ़ निकालना बड़ा कठिन है; वे अशुभ सूचक होते हैं उनका कलेवर साधारण लोगों की अपेक्षा बिल्कुल ही भिन्न चीजों से

बना होता है, उनका धार्मिक पर्दा इतना पतला होता है कि उसमें से हरएक उनका भीतरी हाल देख सकता है, और उनका उदय खूब चर्चा और वादानुवाद का कारण होता है। इन लोगों की अलौकिक प्रतिभा स्फूर्त्ति के लिए इस देश में बहुत ही थोड़ा अवसर है क्योंकि यहाँ के भारतवासियों को शोरशराबे वाली इनकी राजनीति के लिये अवकाश ही नहीं मिलता और यह इनके लिये ऐसा ही आवश्यक है जैसा मछली के लिये पानी। अमरीका के हिन्दू निर्धन और क्रियात्मक हैं जिन्हें कई तरह के विघ्नों का सामना करना पड़ता है। ये लम्बी चौड़ी बातों और निस्सार गर्वोक्तियों की अपेक्षा चुपचाप, स्थिर कार्यों से अपने देश की सेवा करना चाहते हैं। इसलिए ये "दाल भात में मूसलचन्द" गुप्तचर उस प्रकाश से चौंधिया जाते हैं जो यहां की हिन्दू समाज के प्रत्येक कोने को प्रकाशित कर रहा है, क्योंकि छछूंदर और चिमगादड़ की तरह ये भी अँधेरे में ही अपना काम कर सकते हैं। अमेरिका निवासी हिन्दुओं में जैसा दृढ़ गाम्भीर्य स्वच्छ उत्साह, और एकरस कार्य लगन हैं उसमें इनका काम कर सकना बड़ा ही कठिन है। हमारे लोग यहाँ अच्छी तरह समझ गये हैं कि इनके फंदों में केवल मूर्ख देशभक्त ही फंस सकते हैं और इस प्रणाली के विष की सबसे अच्छी यही औषधि है कि अपने चारों ओर सामाजिक वायु मंडल स्वच्छ और उज्ज्वल रक्खा जावे, जिसमें इनका उसी तरह दम घुटता है जिस तरह सूर्य्य के प्रकाश में प्लेग के कीड़ों की जान निकलती है। तब भी संसार के प्रत्येक कोने में रहने वाले हिन्दू जनसमुदाय समय-समय पर इनके दर्शनों से कृतार्थ होते ही रहते हैं और विशेषता यह है कि ऐसे समयों में ये सदा भारतीय स्वाधीनता के जोशीले पक्षपाती और गर्म से गर्म राजनैतिक दल के अनुयायी होने का दम भरते हैं। लोगों ने मुझे बतलाया कि अभी हाल

में इनका एक भाईबन्द यहाँ आया था जो अपने आपको सन्यासी कहता था। परन्तु अनुभवी लोग उसके असली रूप को झटपट ताड़ गये क्योंकि इनका अपने असली रूप को छिपा सकना उतना ही कठिन है जितना एक सड़ते हुए शव का अपनी सड़ांद को। यहाँ के नौजवान खुले और स्पष्टवक्ता हैं और इसी कारण गुप्तचरों को यहाँ कृतकृत्यता प्राप्त नहीं होती, यहाँ उनके ढूँढ़ने के लिये कोई रहस्य ही नहीं है। यहाँ हमें उनके साथ चतुरता करने की जरूरत ही नहीं है। क्योंकि हमारे कथनों को प्रत्यक्ष निर्योजता ही उन्हें मूढ़ और व्याकुल कर देती है। यदि प्रत्येक गुप्तचर यहाँ के हिन्दुओं के वार्तालाप का ठीक २ सारांश "इंडिया आफिस" में भेज दे तो उसके पास एकता, जापान से सीखने योग्य बातें, कला-कौशल की आवश्यकता, अमरीकन लोगों की महानुभावता, प्रजातन्त्र के लाभ, हाथ के काम का आदर, रूजवेल्ट की नीचता, भारतवासियों को उठाने के लिये शिक्षा की आवश्यकता आदि विषयों पर अच्छे उपदेश इकट्ठे हो जायेंगे। यदि समाचार देने वाले सिपाही विश्वासपात्र हों तो उनकी "रिपोर्टों" में यहाँ के हिन्दुओं के ऐसे ही कथन मिलेंगे जो हलचल मचाने वाले नहीं कहे जा सकते। इसके अतिरिक्त यहाँ के हिन्दू कार्य में इतने व्यग्र हैं कि उन्हें असली देशोपकारी काम करने के लिए बहुत थोड़ा समय मिलता है। उनके हृदय में केवल इच्छाएँ और आशाएँ ही लहरें मारती हैं। जो विद्यार्थी आठ घंटे विद्यालयों में पढ़कर तीन चार घंटे मजदूरी भी करते हैं, उनके पास और कामों के लिए क्या शक्ति बच सकती है? विद्या प्राप्ति और आचार सुधार उनके मुख्य उद्देश्य हैं, और उचित भी यही है। हम उनके विचारों और उद्देश्यों के फल चखने के लिये तब तक प्रतीक्षा कर सकते हैं जब तक वे अपने पूरे स्वामी न बन

के या अपने देश में, शिक्षा सम्बन्धी या कलाकौशल सम्बन्धी किसी विभाग में कार्य्य न करने लग जावें।

संस्कृत के कवि प्रत्यंग वर्णन करते समय पांव के वर्णन से आरम्भ करते हैं। उन्हीं का अनुसरण करते हुये मैंने भी पहिले गुप्तचरों के विषय में ही लिखना उचित समझा है। इनके विषय में जितना लिखना उचित समझा है, और इनके विषय में जितना लिखा गया है वह बहुत पर्याप्त है। संस्कृत कवियों के क्रमिकोन्नति मार्ग का अनुसरण करते हुये अब मैं सिक्खों को लेता हूँ जिनकी मेहनत से अमरीकन लोग आज कल इतने ही अभिज्ञ हैं जितने पुराने समय के अफगान उनके भुज बल से परिचित थे। ये हजारों की संख्या में केलिफोर्निया ओरेगान और वाशिंगटन की रियासतों में फैले हुए हैं। ये धीर और अप्रमत्त मेहनती हैं परन्तु उनमें से कुछ कभी कभी मद्य पीकर उन्मत्त हो जाते हैं जैसा कि हाल ही में एक छोटे नगर में हुआ था, जहाँ से हुल्लड़ मचाने के कारण वे निकाले गये थे। वे अपनी पगड़ी और धर्म को खूब बचा कर रखते हैं। वे खेतों में अच्छा धन कमाते हैं और जितना हो सके मितव्यय से निर्वाह करते हैं। वे अच्छी अंग्रेजी बोलना नहीं सीखते क्योंकि वे अपने आप को इस देश में अस्थिर पथिक समझते हैं और यहां रहते हुए भी सदा प्यारे पुराने गांव और भारतवर्ष के उज्ज्वल प्रकाश को याद किया करते हैं। अमरीकन खेतिहर और फल उपजाने वाले उनकी बहुत ढूँढ में रहते हैं। क्योंकि उनकी आदतें नियमित और सरल होती हैं। देश के इस भाग में विदेशी मेहनतियों की बहुत मांग रहती है। इसके विरुद्ध कुछ ही जोशीले देशभक्त अमरीकनों ने शोर मचा रक्खा है जिनकी उत्तेजना के कारण "सैनफ्रैंसिस्को" और कुछ बड़े नगरों में घूमने वाले आलसी भिखमंगे हैं। एक अमरीकन खेतिहर ने, जो

केलिफोर्निया में फलदार वृक्षों के कई एकड़ों का स्वामी है एक बार मुझ से कहा,—देखिये, वस्तुतः मामला यह है—"मैंने पहिले अमरीकन लोगों को काम दिया क्योंकि विदेशियों की अपेक्षा मैं उन्हें पसन्द करता था। आप भी ऐसा ही करेंगे। यह स्वाभाविक बात है परन्तु ये लोग बड़े निकम्मे होते हैं। वे एक सप्ताह तक काम करते हैं, उसके पीछे कोई आकर कहता है कि मेरे पास कमीज नहीं है, कोई कहता है कि उसे ओढ़ने को चाहिये, और इस तरह अपनी मजदूरी में सात आठ रुपये शनिवार को ले जाते हैं। वे सब शराब पर खर्च कर देते हैं। उनमें से कुछ सोमवार को आते ही नहीं या किसी और काम पर चले जाते हैं और उधर मेरे हजारों रुपये के फल सड़ने और गलने लगते हैं। फिर मुझे आप के लोगों को, चीनियों या जापानियों का काम देना पड़ता है जिनको मेहनताना कम देना पड़ता है और काम स्थिरता से होता है।"

प्रायः अमरीकन खेतिहर सड़क पर घूमते हुए सिक्ख को आप बुलाकर काम देता है। इस तरह हमारे परिमित आहार विहार और कठिन धार्मिक नियम विदेश में हमारे भाइयों के लिये बड़े उपयोगी सिद्ध होते हैं जब कि अपने देश में उन्हें काम करने का कोई अवसर नहीं मिलता। यह आशा ही न करनी चाहिये कि सिक्खों का यहां रहना सबके लिए समान सन्तोष दायक होगा। वे सीधेसादे पूर्वीय किसान हैं जो अपने आपको झटपट उस आचार और व्यवहार के अनुकूल नहीं बना सकते जो यहाँ के संकीर्ण सामाजिक जीवन में बर्ते जाते हैं। यहां प्रत्येक मनुष्य से जो आशाएं की जाती हैं, उन्हें वे पूरा नहीं कर सकते। यह कहा जाता है कि सिक्ख बड़े मैले रहते हैं, वे अमरीकन साथियों से दूर रहते हैं, और कई बार छोटी छोटी त्रुटियों के कारण उन्हें स्वास्थ्य-रक्षक अधिकारियों के हाथ

बड़े कष्ट उठाने पड़ते हैं। मैं ऐसी स्थिति में नहीं हूँ कि, मैं इन शिकायतों की न्यायता या अन्यायता परख सकूँ। यदि इनमें कुछ सत्य का अंश हो भी तो यही सिद्ध होगा कि सिक्ख भूल करने वाले अल्पज्ञ जीव हैं। उनके दैनिक जीवनों को हमें बड़े ऊंचे आदर्श से न जांचना चाहिए। और स्वदेश वासियों के लिए इस प्रकार के अनुदार और हलके विचार प्रकट करना और भी अनुचित है जैसा कि मैंने कइयों को प्रकट करते सुना है। इसके विरुद्ध, हमें इन अनपढ़ ग्रामीणों के उत्साह और साहस की प्रशंसा करनी चाहिये। यहां आकर उनमें बहुत शीघ्र देशभक्ति का भाव उदित हो उठता है जो समय पर अपने भाइयों की सेवा करने, सामाजिक कार्यों में अधिक अनुराग रखने, धार्मिक वृत्तियों के सचेत हो जाने, अपने देश में लौट कर भी स्वाधीन आजीविका को पसन्द करने और मिलकर काम करने में बीसियों तरह प्रकाशित होता है। यह शोक है कि उनकी अविद्या और सरलता के कारण कई लोग उन्हें धोखे का शिकार बनाते हैं, परन्तु हमारे इस भूमण्डल में यह बात अनिवार्य है।

मेरी सम्मति में सिक्खों को यहाँ आने से धन सम्बन्धी और आचार सम्बन्धी दोनों तरह का लाभ है। उसमें बड़ा परिवर्तन आ जाता है। उसकी आर्थिक और धार्मिक निर्धनता दूर हो जाती है। वह अपना स्वयं आदर करना सीखता है। वह देशी सेना की रिसालदारी को लौकिक महत्व का सर्वोच्च शिखर नहीं समझता। वह यह भी देख लेता है कि 'ग्रेटब्रिटेन' के सिवाय संसार में कोई और भी शक्ति है। चुपचाप ही उसके भीतर एक तरह की क्रान्ति हो जाती है। थोड़े ही दिनों में वह डरपोक, मैला और अज्ञानी किसान नहीं रहता जो कुछ दिन पहले "सियेटल" या "सैन फ्रांसिस्को" में

मजदूरी के लिये उतरा था। कई स्वार्थी लोग इस आर्थिक और धार्मिक उन्नति को बड़ी चिन्ता और शङ्कायुक्त दृष्टि से देख रहे हैं। परन्तु जब तक सिक्ख लोग बाहर जाते रहेंगे तब तक यह उन्नति रुक नहीं सकती। नई दशाओं में आकर इस परिवर्तन का होना स्वाभाविक ही है। जब एक बार छूट कर बारासिंगा जङ्गल में विचरण करने लगा तो फिर वह डरपोक और मुर्दार नहीं रह सकता? क्या 'सर्कस' से बाहर निकल कर भी केसरी दुम दबाकर बैठ सकता है? अमरीकन वायु मंडल में श्वास लेता हुआ कोई भी मनुष्य ऊंचे आचार विचार में संचरण किये बिना नहीं रह सकता। इस सर्वोत्तम प्रजातन्त्र राज्य के लहराते हुये झंडे के नीचे भीरुता, निराशा, दासता और उदासीनता उसी तरह नष्ट हो जाती हैं जिस तरह आग में सोने की मिलावट भस्मसात् हो जाती है। यहाँ की पताका, सदाचार के लिये अमृतधारा और धर्म के लिये संजीवनी बूटी है जो सैकड़ों उपदेशों और पुराना समय लाने वालों का सहस्रों सभाओं से कहीं बढ़कर शक्तिशालिनी है। यह आशा और शुभ कामना की दूती है जो मनुष्य जाति के निकृष्टतम भाग को भी अपने आभूषणों में परिवर्तित कर लेती है और बियाबान मरु भूमियों को फलते फूलते उद्यान बना देती है। हम उस झंडे के सामने सिर झुकाते हैं जो एकता, स्वाधीनता, सहनशीलता और वैयक्तिक उन्नति का पक्षपाती है और जिसके साथ जातीय आक्रमण या भूत कालीन दुःखों का कोई सम्बन्ध नहीं है। जिनका हृदय शिथिल और उत्साहहीन हो रहा है उन्हें इस नैतिक और धार्मिक "सेनिटेरियम (स्वास्थ्य-सुधारक स्थान) में आना चाहिये जहाँ सामाजिक सूर्य सदा अपना प्रकाश फैलाता है और जहाँ दूसरे जलवायु में क्षीण प्राणी सुन्दर स्वास्थ्य सम्पन्न बनाये जाते हैं। महान् परिवर्तन

कारी रासायनिक, वर्तमान युग का आश्चर्य-जनक जादूगर, अधिक भारवती भूमि माता के उपेक्षित और अरक्षित पुत्रों का आश्रय, अत्याचार से पीड़ित लोगों को स्वाधीनता देने वाला यहाँ का झंडा दूर दूर से पुराने संसार के जाति बहिष्कृत, सम्पत्तिच्युत और पीड़ित पुत्र-पुत्रियों को बुलाता है और कहता है:—"जब तक आकाश मंडल और मेरे तहों में तारे चमक रहे हैं तब तक प्रत्येक जाति के लोग मेरी रक्षा में शान्ति और सम्पत्ति प्राप्त करने के अधिकारी हैं। दुःखी और विह्वल लोगो ! मेरे पास आओ, मैं तुम्हें विश्राम दूंगा।"

इस झंडे के नीचे रहने का सबसे अधिक लाभ विद्यार्थी लोग उठाते हैं। अमरीका के हिन्दू विद्यार्थी मध्यम श्रेणी के लोगों से आते हैं जो, यद्यपि निर्धन हैं तथापि, बुद्धि और क्रिया शक्ति से सम्पन्न हैं। वे कला-कौशल की शिक्षा प्राप्त करने में लगे हुए हैं। और प्रायः अपने निर्वाह के लिए धन भी स्वयं कमाते हैं। विद्यालयों में विद्याध्ययन के साथ-साथ, हाथ के काम से अपने निर्वाह करने का प्रभाव विद्यार्थियों पर बड़ा अच्छा पड़ता है। इससे आत्मावलम्ब और आत्मविश्वास का भाव उत्पन्न होता है। यह विद्यार्थियों को कई तरह के प्रलोभन से बचा सकता है। इससे परस्पर भ्रातृभाव और सहानुभूति बढ़ती है। इससे अभिमान और अकेले रहने का प्रवृत्ति कम हो जाती है। यह सामाजिक जीवन के कठिन और उपयोगी मार्ग के लिए लोगों को तैयार कर देता ।

इसमें सन्देह नहीं कि कई बार निर्धनता आचार को गिराने वाली और कलह बढ़ाने वाली भी होती है। निर्धनता के कारण लोग बुरे साधनों से धन कमाने में प्रवृत्त होते हैं इसी के प्रभाव के कई नौजवान यहाँ योग के अध्यापक या फलित ज्योतिषी बन बैठते हैं और इस तरह धोखे और छल से काम

निकालते हैं। परन्तु यदि सारी बातों पर ध्यान दिया जावे तो यह प्रकार लाभदायक और आलस्य से बचाने वाला ही प्रतीत होता है। यह प्रकार नौजवानों के अपरिपक्व जोश को रोके रहता है, जिस जोश का दुरुपयोग, कुछ अदूरदर्शी देशभक्त देश की भलाई के लिये करना चाहते हैं। इससे नौजवानों को समाज के धीर और विचारशील अवयव बनने और सामाजिक तथा नैतिक झगड़ों के प्रवाह से बच निकलने का अवसर मिलता है, जिसमें कई नौजवान पड़ कर नष्ट हो गये हैं। इससे उन्हें जीवन का वास्तविक रूप और कठिनाइयाँ देखने को मिल जाती हैं, और फिर उन्हें वह जोश झट पट उत्तेजित नहीं कर सकता जो फूस में लगी हुई आग की तरह उठते ही बुझ जाता है। इस तरह की अवस्थाओं में रहने से विद्यार्थियों को अमूल्य लाभ प्राप्त होते हैं। रियासती विश्वविद्यालयों में शिक्षा बड़ी सस्ती है और योग्य व्यक्तियों के लिये काम थोड़ा नहीं है। कई विद्यार्थी किसी धनी परिवार में तीन से पाँच घंटे तक घरेलू कामों में सहायता देकर अपने रहने और भोजन का खर्च निकाल लेते हैं। क्योंकि यहाँ नौकर इतने दुर्लभ हैं कि बहुत धनी ही एक आध "काला" नौकर रखने का व्यय सहार सकते हैं। मैंने उच्च सामाजिक स्थिति रखने वाली महिलाओं को अपनी रोटी पकाते और घर साफ करते देखा है। निर्धन, परिश्रमी, और बुद्धिमान विद्यार्थियों के लिये अमरीका बड़ा लाभदायक देश है। यदि कोई सरल और कठोर जीवन व्यतीत कर सकता है तो अपने घर से रुपया न आने पर भी वह वहाँ की "डिग्री" ले सकता है। परन्तु लौटने के किराये का पूरा प्रबन्ध कर छोड़ना चाहिये। विशेष आवश्यकता या रोगी होने पर भारतवर्ष में उसे कोई अपना आश्रय भी ढूँढ़ रखना चाहिये। विद्यार्थियों को जो काम मिलता है उससे खाना पीना ही हो सकता है, उसमें

कुछ बचाना कठिन है। कई विद्यार्थी, विश्वविद्यालयों की पढ़ाई समाप्त करने पर निराश्रय हो जाते हैं और आश्चर्य से देखते हैं कि उनकी "डिग्री" ६०० रुपये का टिकट लेने में समर्थ नहीं है। कई लोग झूठे प्रकारों से रुपया इकट्ठा करने लगते हैं अतएव ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि भविष्यत् में ऐसी घटनायें न हो सकें क्योंकि असज्जनता के व्यौहार से अमरीकन लोगों में हमारी प्रतिष्ठा कम होती है और भविष्यत में कठिनाइयों के बढ़ने की सम्भावना है। जिस निर्धन वद्यार्थी के पास लौटने का किराया मिल सकता है उसे यहाँ आने से न डरना चाहिये। परन्तु जो शक्ति या भाग्य पर ही निर्भर रहते हैं उन्हें यहाँ न आना चाहिये क्योंकि इन गुणों से दैनिक रोटी कमाई जा सकती है, किन्तु इनसे परिवर्तन में बड़ी धन की राशि मिलना कठिन है। आलसी और दरिद्री विद्यार्थी दूसरों को जोंक की तरह लग जाते हैं परन्तु इससे परस्पर अविश्वास और आपस का झगड़ा बढ़ता है, क्योंकि हममें धन से बढ़ कर द्वेष फैलाने वाली वस्तु कोई भी नहीं है।

हमारे विद्यार्थी मानसिक योग्यता का बहुत अच्छा परिचय देते हैं, वे अपने परिश्रम और योग्यता से परीक्षा में बड़े अच्छे रहते हैं और अपने अध्यापकों से प्रशंसा प्राप्त करते हैं। बहुत ही कम अनुत्तीर्ण होते हैं। यहाँ धनी और आलसी लोग नहीं आते। इसीलिए पढ़ाई लिखाई में ये बहुत ऊँचा दर्जा प्राप्त करते हैं।

अब मैं अंतिम श्रेणी की ओर आता हूँ जिनके विषय में मुझे कुछ कहना है और वे सन्यासी हैं। मैं पहले ही कह देना चाहता हूँ कि स्वामी और स्वामियों में भेद है। सब ही चमकीली चीजें सोना नहीं होतीं। यहाँ के कुछ सन्यासी बड़े प्रतारक हैं, जो धर्म की आड़ में धन संग्रह और इससे भी बढ़ कर पाप

करते हैं। यहाँ की सभ्यता के निकृष्ट भागों ने उन्हें अपना दास बना लिया है। वे संसार की चिन्ता से रहित, बड़े आराम से अपना जीवन बिताते हैं। वे प्रौढ़ स्त्रियों से खूब रुपया ठगते हैं। यहाँ के कुछ स्वामी इस तरह के अवश्य हैं, वे हिन्दू समाज के कलंक हैं। वे अपनी आत्मिक विद्या फैलाने का काम चुपचाप करते हैं और उन्हें अधिक कृतकृत्यता नहीं होती।

स्वामी विवेकानन्द द्वारा स्थापित "वेदान्त मिशन" के साथ सम्बन्ध रखने वाले स्वामी बहुत सच्चे और गम्भीर हैं और अमरीकन लोगों का बड़ा भला कर रहे हैं। सम्भव है उनमें से एक या दो आदर्श से नीचे हों। और मैंने एक के विषय में कई शिकायतें सुनी भी हैं। परन्तु बर्तनों में तवे सब जगह ही होते हैं। मानवीय स्वाभाविक दुर्बलता और रहन-सहन के पश्चिमीय तरीकों को ध्यान में रख कर देखा जावे तो मानना पड़ेगा कि स्वामियों का जीवन बड़ी उच्च श्रेणी का है और वे उस कृत्यकृत्यता के योग्य हैं जो उन्हें प्राप्त हुई है। जब स्वामी विवेकानन्द ने १८९६ के शिकागो धर्म सम्मेलन में व्याख्यान दिया था और श्रोताओं को "अमरीका के भाइयो और बहिनों" कह कर सम्बोधन करने में खूब तालियें प्राप्त की थीं तब उनके स्वप्न में भी न था कि उनके पीछे कार्य्य-परायण उपदेशक उनका काम पूरा करेंगे। उनके उपदेशों का शुभ प्रभाव चारों ओर देखने में आता है। अमरीका के लोग हिन्दुओं से धर्म सीखने के लिये बड़े उत्सुक रहते हैं। पढ़े लिखे लोग सदा समझते हैं कि प्रत्येक हिन्दू योगी है या उसे होना चाहिये। हिन्दू-विचारों के लिये बड़ा अनुराग उत्पन्न हो रहा है। कई सच्चे जिज्ञासु अपने आदर्श की प्यास को हिन्दुओं के दर्शन स्रोत से बुझाना चाहते हैं। बोस्टन की एक अध्यात्मिक—विद्या सम्बन्धिनी सभा में घुसते ही मुझसे एक महिला ने पूछा कि

क्या मैं "मानसिक-चिकित्सा" जानता हूँ। कई अमरीकन उपदेशक भी "कर्म" पर उपदेश देते हैं यद्यपि वे हमारे विचारों को बड़ी अपूर्णता से समझते हैं। यहाँ "थ्यासोफी" की भी पर्याप्त उन्नति है और श्रीमती कैथराइन टिंगले की अधीनता में केलिफोर्निया के पोईंटलोमा में नियमित राजयोग कालेज है। कई धनवती और शिक्षित महिलायें हिन्दू धर्म में बड़ा अनुराग प्रकाशित करती हैं और बैठकों की सजावट के लिये रक्खी हुई बुद्ध की मूर्तियों के सामने धूप दीप जलाती हैं। कई अमरीकन महिलाओं ने हिन्दू नाम भी रख लिये हैं। और वे वेदान्त का प्रचार करती हैं। उनमें से मुखिया एक पढ़ी लिखी महिला, भगनी "देव माता" है जो भारतवर्ष में दो वर्ष तक वेदान्त पढ़कर अभी लौटी है और अब इस देश में वेदान्त का प्रचार करेगी। हमारे विचारों से उसकी अभिज्ञता बड़ी प्रशंसा योग्य है और उससे मिलकर और "प्राणायाम" तथा "सार्वभौम" धर्म के रूप में वेदान्त पर व्याख्यान सुन कर मैंने बड़ा आनन्द प्राप्त किया। स्वामी लोगों के परिश्रम से उच्च श्रेणी के लोगों में हिन्दू विचार साधारणतः फैल गये गये हैं और हमारी "दार्शनिकों की जाति" होने की विख्याति फैल गई है। हिन्दू-जातीयता, इन लोगों में मिलने जुलने का प्रमाणपत्र हो गया है, और यदि इसके साथ उस व्यक्ति में कोई असाधारणता हो तब तो निस्सन्देह यह प्रीति, भक्ति और नम्रता के भाव में परिणित हो जाती है। मेरे एक मित्र ने पैदल घूमते हुए, एरिकजोना और दक्षिण मेक्सिको के दूर भागों में भारतीय धर्म और राजनीति पर व्याख्यान दिये हैं। लोग उनका व्याख्यान बड़ी रुचि से सुनते थे और उनकी प्रतिष्ठा करते थे। अमरीकनों की बुद्धि बड़ी जागृति और प्रश्नशील होती है। सब के विषय में सब कुछ जानना चाहते हैं। वे भारतवर्ष को रहस्यों और अद्भुत बातों की भूमि तथा

साँप, ज्योतिषी, योगी, महात्मा, हाथियों का निवासस्थान समझते हैं। इसलिये यहाँ का नाम उन्हें मोह लेता है। वेदान्ती स्वामी उनकी इस उत्सुकता को पूरा कर देते हैं और उन्होंने कई नगरों में अपने चारों ओर भक्त शिष्यों के छोटे समूह इकट्ठे कर लिये हैं। बोस्टन, न्यूयार्क वाशिंग्टन, पिट्सबर्ग सेनफ्रेंसिस्को, और लोएंजल में वेदान्त शिक्षा के केन्द्र हैं। सेनफ्रेंसिस्को की सभा विशेष वर्णन के योग्य है क्योंकि इसके पास एक अपना मन्दिर भी है, और वहाँ के प्रबन्धकर्त्ता भी अपनी पुस्तिका में यह लिखने का सदा ध्यान रखते हैं कि "यहाँ केवल एक यही हिन्दू मन्दिर है।" इस सभा की कृत्यकृत्यता का कारण स्वामी त्रिगुणातीत और स्वामी प्रकाशानन्द की कार्यशक्ति है। इन स्वामियों में निस्सन्देह सच्चा धार्मिक जोश है। मन्दिर की बनावट बहुत सुन्दर है। अढ़ाई वर्ष की विशेष यात्रा के पीछे इस मन्दिर को देख कर मुझे घर याद आ गया और मैंने सोचा कि आगे से केवल एक यही हिन्दू मन्दिर है जिसे मैं देख सकूँगा। हरिद्वार और हृषीकेश के दृश्य मेरी आँखों के सामने घूमने लगे और कल्पना मुझे उन शान्ति और समाधि के निवासस्थानों में उड़ा ले गई जिन्हें मैं सदा के लिये "नमस्ते" कह चुका हूँ। मैं उन पुण्यस्थलों के पवित्र पवन के लिये अभी उत्कण्ठित हूँ जहाँ के शान्त कोनों में विचरता हुआ एक एक श्वास समाधिकारी चिन्ताहारी और आत्मोप-कारी है।

और मैं उसी तरह का एक स्थान पश्चिम में ढूँढ़ने का यत्न कर रहा हूँ जहाँ पूरी आत्मिक उन्नति कर सकूँ, जो ऐसी गर्म और सम जलवायु में हो सकती है जैसी हमारी पुण्य भूमि को मिली है। रत्नमयी पेरिस नगरी के सुहावने मार्गों में, योरप के नकली हिमालय एल्पस पर्वत की चट्टानों पर सूर्योद्भासित

सुन्दर इटली के मैदानों में, "नव इङ्गलैण्ड" के किनारों पर टकराने वाले हिमाच्छादित अटलांटिक महासागर के तीर पर, मेरा मन हिन्दू-धर्म के भूलना की ओर दौड़ता है जहाँ कपिल से लेकर रामतीर्थ तक हिन्दू-मुनि आत्मबोध और तत्वज्ञान प्राप्ति के लिये जाते रहे हैं। उसे हम भारतवर्ष के धर्म परायण महात्माओं की शिक्षाभूमि कह सकते हैं। परन्तु संसार के इस पश्चिमी भाग में शोर, हिम, लोकाचार और रूढ़ि ही दीख पड़ती है। यहाँ संसार हमारे साथ सदा चिपटा रहता है। सम्भव है मेरा चिरवांछित शान्तिधाम मुझे दक्षिण कैलिफोर्निया में मिल सके जहाँ कि भारतवर्ष जैसे जलवायु में अप्रतिहत समाधि और सच्चे संन्यास का अभ्यास हो सकता है।

इस वैयक्तिक विषयान्तर-गमन से घर में रहने वाले पाठक उन भावों की गहराई का अनुमान कर सकते हैं जो प्रवास में घर सम्बन्धी किसी भी चीज के देखने से हमारे हृदय में उदित हो उठते हैं। एक छोटा हिन्दू मन्दिर क्या चीज है? भारतवर्ष में ऐसे सैकड़ों विद्यमान हैं। हाँ, प्यारे पाठक! तुम्हारे लिए यह कुछ नहीं। तुम सदा भारतीय वसन्त का आनन्द लेते हो, तुम कोकिल का गान और कमल का विकाश देखते हो पर उन पर एक क्षण भर भी विचार नहीं करते। तुम्हारे लिये एक कमल केवल कमल है, परन्तु हमारे लिये यह इससे भी बढ़ कर है। इसकी एक एक पंखड़ी हमें उन चीजों का स्मरण कराती है जिन्हें हम अपने देश में छोड़ आये हैं, और जब तक कोई असम्भव बात ही न हो जाय तब तक हमें देखने का अवसर न मिलेगा। इसलिए सैनफ्रेंसिस्को के मन्दिर की प्रशंसा अत्युक्ति भरी न समझनी चाहिये। उस दिन मैंने एक अमरीकन महिला से कहा—"मैंने तब तक भारतवर्ष का मूल्य नहीं समझा था जब तक सदा के लिये वहाँ से विदा नहीं हुआ

था ।" और तब मैंने उन अद्वितीय अवसरों का वर्णन किया जो भारत की जलवायु और लोगों के आचार व्यवहारों के कारण हमें धार्मिकोन्नति के लिये पर्याप्त हैं ।

मन्दिर के अन्दर घुसते हु मेरे हृदय की लहरें वेदान्त के प्रभाव से शान्त होने लग गईं क्योंकि अपने मनोविकारों को रोकने की शिक्षा के अतिरिक्त और वेदान्त क्या सिखाता है ? अमरीकन शिष्यों द्वारा बनाये हुये, रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द के चित्रों से मन्दिर सुशोभित था । इसके अध्यक्ष स्वामी प्रत्येक आदित्यवार को तीन व्याख्यान देते हैं, गीता की पाठशाला चलाते हैं, योगाभ्यास की शिक्षा देते हैं और एक छोटी सी "स्वाधीनता की वाणी" नामक पत्रिका निकालते हैं । उनके कई शिष्य संस्कृत पढ़ते हैं और गीता का मूल संस्कृत में पाठ करते हैं । कुछ जोशीले योरप निवासी उपदेशक बनने के लिये ब्रह्मचारी बनकर रहते हैं । स्वामी त्रिगुणातीत ने यहाँ अच्छी सामाजिक स्थिति प्राप्त कर ली दीखती है और इसी से १९१५ में सेनफ्रेंसिस्को में होने वाली पनामा प्रदर्शिनी के भारतीय विभाग के वे अधिष्ठाता नियत हुए हैं । स्वामियों ने कैलिफोर्निया में शान्ति आश्रम स्थापित करके अपनी विशेष आध्यात्मिक प्रवृत्ति का परिचय दिया है जहाँ उनके शिष्य समाधि और आध्यात्मिक शिक्षा के लिए, प्रति वर्ष एक मास तक रहते हैं । भारतवर्ष में ऐसी बात का चाहे हम पर कुछ प्रभाव न पड़े, परन्तु हम अशान्त और कोलाहलकारी अमरीकन लोगों को नहीं जानते जो सदा किसी न किसी नई बात की चाह में रहते हैं । उनमें जरा भी अन्तर्ध्यान नहीं है । वे अन्तर्ध्यान से उतना ही विरोध रखते हैं जितना हत्या से । उन्हें मानसिक "समत्व" सिखाने के लिये साधन करवाने पड़ते हैं । किसी अमरीकन को ध्यान के लिये पर्वत में

भेज सकने की अपेक्षा सिंह को पालतू बनाना या वायु को बाँधना सुलभ है। वह नहीं समझ सकता कि सच्चे जीवन के तिरोहित रत्न सभा, मंडी, नाटकघर और गिर्जे से बहुत दूर पड़े हैं। शान्ति आश्रम, स्वामियों के अव्यर्थ प्रचार का ज्वलन्त प्रमाण है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अमरीकन लोग यहाँ हिन्दुओं से बड़ा लाभ उठाते हैं।

यह वेदान्त प्रचार का उत्कृष्ट फल है कि ये व्याकुल, हलके और विषय-दास अमरीकन भी हिन्दू-धर्म शास्त्रों के अनुसार शान्ति आश्रम में अपना जीवन बिताने का प्रयत्न करते हैं। मेरी इच्छा है कि वह फले फूले।

और भी कई ऐसी बातें हैं जो यह सिद्ध करती हैं कि ये स्वामी अपना प्रचार बड़ी गम्भीरता से करते हैं। और इनके शिष्य उन "तमाशबीनों" में से नहीं हैं जो अपना धर्म उसी तरह बदल लेते हैं जिस तरह पेरिस की स्त्रियें अपना 'फैशन'। दो अमरीकन स्त्री-पुरुषों ने हिन्दू मन्दिर में अपना विवाह करवाया है। धर्म द्वारा सामाजिक जीवन के नियमित होने से पता लगता है कि नये मत की नींव आवेश और दूर-दर्शिता के साथ रक्खी जा रही है। इस तरह वेदान्त केवल एक दार्शनिक मत होने के स्थान में जीता जागता धर्म बन जायगा। एक और स्मरणीय घटना रामकृष्ण परमहंस का बीस मार्च को जीवनोत्सव था जब दिन भर श्रोताओं ने व्रत रक्खा और वे १५ घण्टे तक एक स्थिति में खड़े रहे। सभा के धन संग्रह की अपेक्षा यह कार्य सभासदों की भक्ति और स्नेह का अधिक निश्चायक है। वे लोग आदित्यवार के दिन प्रातःकाल अपने पेट को खूब भर कर गिरजे जाते हैं जिससे उपदेश सुनते समय धार्मिक भावों के घुसने के सब द्वार बन्द हो जावें। यह स्वामियों की बुद्धिमत्ता और आत्मिक शक्ति, का बड़ा भारी

जमाता है कि उन्होंने इन अधिक भोजी स्वार्थी अमरीकनों में से थोड़ों को आत्मसंयम और तप का मूल्य सिखला दिया है, जिनका अभ्यास प्रत्येक हिन्दू करता है। अमरीकन लोगों को १५ घण्टे तक व्रत रखने और एक स्थिति में बैठने के लिये उद्यत कर सकना जादू से कुछ कम आश्चर्य-जनक नहीं है।

शायद किसी से भूल हो इसलिए मैं कह देना चाहता हूँ कि मैं स्वयं वेदान्ती नहीं हूँ। मैं अध्यात्मिक विद्या को मूढ़, झूठा और भ्रममूलक समझता हूँ। परन्तु मैं उन लोगों के काम को श्रद्धा से देख सकता हूँ जो मनुष्य जीवन में आदर्श अध्यात्मिक साधनों का प्रवेश कराना चाहते हैं चाहे वे किसी भी मत के पक्षपाती क्यों न हों। मैं इसलिए भी वेदान्त प्रचार की कृतकृत्यता में अनुराग रखता हूँ क्योंकि यह उन स्वार्थ-त्याग और सांसारिक भावों का प्रतिनिधि है जो अब भारत में परिवर्तन ला रहे हैं। इनका काम उस पुनरुज्जीवन का एक भाग है जो हिन्दू समाज में नया जीवन फूंक रहा है।

कुछ समालोचक पूछ सकते हैं कि जब भारत में इनके लिये इतना काम है तो ये अमरीका में क्यों आते हैं? यही आक्षेप ईसाई पादरियों पर किया जाता है जो अपने नगरों के दुराचारी और अज्ञानावृत लोगों को छोड़ कर भारतवर्ष और चीन में ईसाई बनाने जाते हैं। इस प्रकार के आक्षेप दिखाते हैं कि आक्षेपकों को मनुष्य के हृदय में कार्य करने वाली शक्तियों का पूरा ज्ञान नहीं है। वायु अपनी इच्छानुसार बहती है और कोई नहीं बता सकता कि यह कहाँ से आती है और कहाँ जाती है। एक तरह का आदर्श एक व्यक्ति को उच्च दशा में पहुंचा देता है परन्तु दूसरे पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं होता। प्रत्येक को अपना आदर्श कार्य में परिणत करना चाहिए। यह कोई आवश्यक नहीं कि सब

मेरे ही आदर्श को मानने लगें। आत्मिक शक्ति सहस्रों आकारों में प्रकट होती है। हममें से प्रत्येक की एक ही तरह की शक्ति और उद्देश्य नहीं हैं। इस तरह तुम गुलाब को चंबेली न होने का दोष दे सकते हो और कोयल को बुलबुल न होने से निन्दा कर सकते हो। कला, साहित्य, विज्ञान, राजनीति, युद्ध और खोज इत्यादि भिन्न २ विषय हैं, इनमें से कोई एक से स्नेह करता है और दूसरा दूसरे विषय से। हमें अनुदार और संकुचित विचार न रखने चाहिए। जैसे एक स्त्री अपने एक पति को चुन लेती है और फिर अपने व्रत पर पक्की रहती है इसी तरह हममें से प्रत्येक को आदर्श मार्ग पकड़ लेना चाहिए और हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि जब किसी जाति की गाढ़ निद्रा टूटने से उसमें शक्तियें प्रादुर्भूत होती हैं तब वे कई तरह के कार्य करना और कई उद्देश्यों तक पहुँचना चाहती हैं। शक्ति एक ही मार्ग में बन्द नहीं रह सकती किन्तु वह भिन्न-भिन्न पथ पकड़ती है। जिस भाव ने कोलम्बस को अमरीका भेजा उसी ने लूथर को "डायट आव वर्म्स" भेजा। योरुप के पुनरुज्जीवन के समय गैलीलियो, दूसरे समय शेक्सपीयर, नौक्स बेकन, काल्विन आदि सब ने एक ही स्रोत से शक्ति प्राप्त की थी। इसी तरह हमारे में से वे जो समझते हैं कि जीवन सुख-प्राप्ति के लिये नहीं किन्तु किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये है एक ही शक्ति द्वारा प्रेरित हो रहे हैं। यह एक साधारण मत है जिस पर केशव और दयानन्द, महेन्द्रलाल सरकार और आनन्दी बाई जोशी, बंकिम और रवीन्द्र, अरविन्द घोष और तिलक, जे० सी० बोस, विवेकानन्द, सयाजी राव गायकवाड़, मुन्शीराम लाजपत राय और परमानन्द चलते हैं। और ये ही सब नव भारत के नेता हैं जिन्होंने कला, विज्ञान, राजनीति या धर्म में

विशेषता प्राप्त की है। अतएव अपने आदर्श की ओर न आने के कारण निन्दा की अपेक्षा प्रत्येक को दूसरों की कृतकृत्यता पर प्रसन्नता प्रकट करनी चाहिये। यदि हम यह बात ध्यान मे रक्खें तो हमें पता लग जायगा कि प्रत्येक वह हिन्दू प्रशंसा का पात्र है जिसने लोगों की भलाई के लिये कुछ काम किया है। इसी भाव से प्रेरित होकर हमें उन स्वामियों की प्रशंसा करनी चाहिये जो हिन्दू धर्म को "आक्रमणकारी" बना रहे हैं क्योंकि यह उन का उद्देश्य है और वे इस की पूर्त्ति में लगे हुये हैं।

और यह भी विचारने योग्य बात है कि भारतवर्ष को सदा मांगने की जगह और जातियों को कुछ देना भी चाहिये। हमारे विद्यार्थी जर्मनी, इङ्गलैंड, जापान और अमरीका के द्वारों पर शिल्पशिक्षा के विनीत याचकों के रूप में सदा खड़े रहते हैं। परिवर्तन में हम इन देशों को क्या देते हैं? क्या हम में आत्मसम्मान नहीं है? अथवा हम बुद्धि-धन-शून्यों के पास कुछ नहीं है जिससे उन का ऋण चुका सकें। अब हमारे लिये उचित है कि विज्ञान और कला की व्यापार-मंडी में केवल याचकों के रूप में खड़े न रहें। हमें भी कुछ अपनी वस्तुयें दिखलानी चाहिये जिन के परिवर्तन में हम उन से उन द्वारा निकाली हुई और पूर्ण की हुई मूल्यवान् वस्तुयें मांगते हैं। अपने देश से कुछ कार्यकर्त्ताओं के बाहर जाने से जो हानि होगी उसकी अपेक्षा आत्मसम्मान की प्राप्ति के कारण जो लाभ होगा वह बहुत अधिक है। वर्तमान भारतवर्ष, बायालोजी से ले कर साबुन निर्माण तक की विद्या में शिष्य और याचक है। परन्तु वह उन के परिवर्तन में दो वस्तुयें दे सकता है—अपना तत्वज्ञान और धार्मिक जीवन का आदर्श, और ऋण चुकाने के लिये ये पर्याप्त हैं। वर्तमान

भारत निस्सहाय और गिरा हुआ है परन्तु वह प्रत्येक शताब्दि में कुछ ऐसे मनुष्य उत्पन्न कर देता है जो भूमि के सार कहे जाने चाहिये—यदि वे जो केवल अपने आप को समझ सकें। हिन्दू समाज सर्वतोभावेन अत्यन्त आचारहीन और कलुषित है, और पश्चिम के पुर्तगाल, स्पेन, बलगेरिया और इटली जैसे निकृष्ट देशों के साथ भी समानता नहीं कर सकता। परन्तु मेघों में से विद्युत के समान उस में से कभी कभी ऐसी आत्मायें निकल आती हैं जो इमर्सन और टालस्टाय की समानता कर सकती हैं, और यदि ये विस्तृत संसार में निकलें तो मनुष्य जाति पर विपुल प्रभाव डाल सकती हैं। इसलिए पुरानी आध्यात्मिक शिक्षा और आदर्श जीवन के नाते जागते उदाहरण ये दो चीजें हैं जो भारतवर्ष औरों को दे सकता है, इस से अधिक संसार क्या चाहता है? कला के रहस्यों और यांत्रिक शिक्षा के बदले ज्ञान और धर्म का दान, यह बहुत ही उदार दान है। इस दृष्टि से भी स्वामियों का कार्य लाभदायक और आवश्यक है। भारतवर्ष को चाहिये कि स्वार्थी हो कर यथा सम्भव लेने का प्रयत्न करने की अपेक्षा वह भी संसार के शिक्षा-भंडार में कुछ न कुछ अपना भाग डालता रहा करे।

अन्त में मैं अपना विश्वास प्रकट करना चाहता हूँ कि हिन्दू समाज में अभी तक जीवनाग्नी विद्यमान है परन्तु उसे उत्तेजित करने की आवश्यकता है। अमरीका में स्वामियों, विद्यार्थियों और श्रमियों का दिखाया हुआ आत्मा बलकन्त और निर्माण-कौशल मरी हुई जाति के लोगों में रहना असम्भव है। भारतवर्ष मरा नहीं, पर जीता है··· अमरीका में हिन्दुओं को काम करते हुए देख कर ये शब्द स्वभावतः यात्री के मुख से निकल पड़ते हैं। यह पुराने आर्यों का भाव है जिन्होंने देश को बसाया था और धार्मिक तथा

दार्शनिक मत प्रकाशित किये थे। उसी जीवन का यहाँ फिर से दृष्टान्त दीखता है। निरख बसने वाले मजबूत आर्यों के प्रतिनिधि हैं, विद्यार्थी ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करते हैं और स्वामी अगस्त्य और वशिष्ठ के प्रतिरूप हैं जो म्लेक्षों की शिक्षा के लिये आश्रम खोलते थे ? यहाँ साधारण किसान में भी जो परिवर्तन आ जाते हैं वे बतलाते हैं कि उसके हृदय में छिपा हुआ सामाजिक भाव और जोश विद्यमान है जो उन दोषों को भस्म कर सकता है जिनसे हम पीड़ित हो रहे हैं। मेरा प्रीति पूर्ण हृदय, स्वदेश वासियों को आशा का संदेश भेजता है। कहावत है कि प्रत्येक काले मेघ के किनारे पर रुपहली रेखा होती है। इस समय जो लोग भारतवर्ष में रहते हैं केवल काले बादल और विद्युत की गर्जना ही सुनते हैं कि सूर्य सदा के लिये छिप गया है। परन्तु मैंने उस रुपहली रेखा को देख लिया है जो उनके लिये अदृश्य है। मैंने वह यूरुप और विशेषतया अमरीका में देखी है जहाँ स्वार्थत्याग, दृढ़ता आचार, और परिश्रम का भाव प्रत्यक्ष है। यहाँ मुझे पता लगा है कि हमारे देश वाले प्रतिकूल अवस्थाओं में भी श्रेष्ठ गुणों का प्रकाशन कर सकते हैं और कृतकृत्य हो सकते हैं। यहां बात थोड़ी परन्तु काम बहुत होता है, यहां भविष्यत् मनोरथों की अपेक्षा वर्तमान कृतकृत्यता की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। यही गुण राष्ट्र निर्माण के लिये आवश्यक है, विचित्र धार्मिक, राजनैतिक विचार और व्याख्यान तथा लेख निरर्थक हैं।

भारतवर्ष मरा हुआ नहीं पर जीता है। विदेश में बहुत कुछ होरहा है जिसका स्वदेश में ज्ञान नहीं है। प्रत्येक मनुष्य को चुपचाप परन्तु गम्भीरता से कार्य्य करना चाहिये कि काल जो अनाज को पकाता है और शरद के पीछे वसन्त को लाता

है पत्थर से पशु और पशु से मनुष्य बना देता है, जो गौरव के जङ्गली लोगों को विज्ञान और कला में प्रधानता दिला चुका है, और जो कुछ समय पहले रोम के दासों को भूमि का सम्राट बना चुका है, समय—वह महान् शिल्पी समय जो अघातों का चिकित्सक और पापों का बदला लेने वाला है, हमारे शरीर के भस्मसात हो जाने पर भी हमारे प्रयत्नों को सफल करेगा।

---

# यूरोप की नारी।

यदि किसी कन्या से उसके जन्म लेने के पहिले पूछा जावे कि तुम पूर्व देश में जन्म लेना चाहती हो या पश्चिम में तो वह क्या जवाब देगी ? वह हो न हो, यही कहेगी कि मैं जन्म ही नहीं लेना चाहती। बात सच है, क्योंकि क्या पूर्व, क्या पश्चिम क्या हिन्दुस्तान क्या इङ्गलिस्तान, सभी देशों में स्त्री की दशा एक सी है, सभी देश की स्त्रियां पुरुषों की गुलामी करती हैं जब गुलामी ही करना बदा है, तब क्या पूर्व देश, क्या पश्चिम? "कोउ नृप होय, हमैं का हानी। चेरी छांड़ि न होइब रानी।" जहां जायें स्त्रियों को चेरी ही बनके रहना पड़ेगा।

परन्तु गुलामी किये बिना किसी के दिन नहीं कटते। पुरुषों को भी तो गुलामी करना पड़ती है! राज-सम्बन्धी गुलामी, नीति-सम्बन्धी गुलामी, धन-सम्बन्धी गुलामी; विद्या बुद्धि बल सभी बातों में किसी न किसी तरह से पुरुषों को भी तो बन्धन में रहना पड़ता है। इससे स्त्रियाँ भी उनकी योग्यता के अनुसार किसी बन्धन में रहें तो क्या विचित्र है। बात तो ठीक है, परन्तु स्त्रियों का बन्धन और भी अधिक नाच है। वे गुलामों की गुलामी करती हैं।

इस सम्बन्ध में पूर्व और पश्चिम में एकही दशा है, अन्तर

कुछ नहीं है। अंगरेज पादरी और दूसरे आत्माभिमानी यूरोपियन और अमेरिकन लोग कहा करते हैं कि उनकी स्त्रियां समाज में बहुत ऊंची जगह पर प्रतिष्ठित हैं, वे मर्दों का बराबर वाला समझी जाती हैं, उनको सच्चा स्वाधीनता का सुख मिलता है, और सब बातों में वे पूर्व देशों की स्त्रियों से अधिक सुखी, अधिक बुद्धिमती और अधिक चतुर हुआ करती हैं। सुनने में ये सब बातें बहुत अच्छी लगती हैं, पर इनमें बस इतना ही ऐब है कि बिलकुल झूठ बातें हैं।

यह डींग कि पश्चिमी स्त्रियां पूर्वी स्त्रियों से अधिक सम्मानित हैं, पुरुष उनका अधिक आदर करते हैं, बिलकुल झूठी है—इतनी झूठी है कि उससे घृणा होने लगती है। स्त्रियों के सम्बन्ध में पुरुष सब जगह एकसे स्वार्थी पशुवत् आचरण करते हैं। यूरोप की स्त्रियों में यदि किसी बुराई की कमी है, तो बहुत सी बातों में उनमें इनसे भी बढ़ चढ़कर कितनी ही बुराइयां पाई जाती हैं। दोनों समाजों की दशाओं में थोड़ा बहुत अंतर तो जरूर ही होगा, परंतु इससे स्त्रियों की असली दशा में बहुत अंतर नहीं पड़ता। दोनों देशों में जैसे एक ओर कुछ अच्छी बातें हैं उसी तरह दूसरे पल्ले में उतनी ही बुराइयां भी मिलती हैं। उन्नत दशा वाली डींग स्वप्न की बात है।

कुछ दृष्टान्त देने से ऊपर का कथन स्पष्ट हो जायगा। पहिले बड़े घरों की बात लीजिये। क्योंकि बड़े घरों ही में विद्या, स्वाधीनता, सम्मान आदि की डींग ज्यादा हांकी जाती है। और इन्हीं बड़े घरों की मेम साहबों की नकल उतारना आज कल हमारे देश के भी बहुत से विद्याभिमानी लोग अपना जीवन सफल करने में एक मात्र सहायक समझते हैं। हमारे विद्याभिमानी हिन्दुस्तानी भाई देखते हैं कि इनकी स्त्रियां कालेज जाती हैं, पियानो बजाती हैं, नई नई पुस्तकें पढ़ती हैं, लेकचर

देती हैं, उपन्यास लिखती हैं। इनकी चाल-ढाल देखकर वह मोहित हो जाते हैं और झट से समझ लेते हैं कि इनकी दशा बहुत उन्नत है। हमारे भाई यह नहीं देखते कि इस चाल-ढाल में कितनी धूर्त्तता, कितनी घृणा, कितना दुःख, कितनी निर्दयता भरी रहती है, यद्यपि ऊपर से सुन्दरता का श्रृंगार और सभ्यता की भड़क नेत्रों में चकाचौंध लगा देती है। वे नहीं समझते कि इन बातों से स्त्रियों का कितना भारी अपमान होता है। स्त्रियों को ये सब बातें क्यों करनी पड़ती हैं? पति ढूँढ़ने के लिये। ऐसा न करें तो उनको पुरुषों की अधीनता रूपी सुख कैसे मिले?

इस बड़े घर वाले समाज में स्त्रियों को १५ वर्ष की अवस्था से अन्तकाल तक दुःख झेलना पड़ता है। क्यों? बिना अन्न-पानी के, बिना कपड़े लत्ते के वे एक दिन भी नहीं जी सकतीं। भोजन वस्त्र का कोई न कोई देने वाला उनको जरूर चाहिये। सो वे विवाह न करें तो भूखों मर जायें। भोजन वस्त्र का मालिक मर्द है, और वही जिसे चाहे हाथ उठा कर देता है। कहिये इन सभ्य देशों में—स्वाधीनता की डींग हांकने वाले समाज में स्त्रियों के लिये स्वाधीन प्रबन्ध क्यों नहीं होता? अन्न, वस्त्र, मकान, जीवन यात्रा की सारी सामग्रियों के लिये स्त्रियों को पुरुष का मुंह क्यों ताकना पड़ता है? (मैं किसी इनेगिने धनी परिवार की बात नहीं कहता, बात हो रही है सारी स्त्री जाति और सारी पुरुष जाति के विषय में। किसी इक्के दुक्के की बात नहीं होती) अप्सरा की सी सुन्दरी स्त्रियाँ भी हवा पीकर नहीं जी सकतीं। जीवन व्यतीत करने के लिये उनको पुरुष के आधीन होना ही पड़ता है। और इस आधीनता के बन्धन में पड़ने के लिये पूर्वी देश की स्त्रियों को दुःख नहीं उठाना पड़ता है उनके माँ-बाप ही उनका योग्य पात्रों से विवाह करवा देते हैं परन्तु यूरोप में बेचारियों की बड़ी दुर्गति होती

है। अपने रोटीवाले के लिये—अपने पति के लिये उन्हें बड़े-बड़े दुःख झेलने पड़ते हैं। एक नवयौवना कन्या को इस विशाल संसार में अपना प्रेमी ढूँढ़ना पड़ता है। चाय पीने के न्योते में, नाचों में, गिरजों में, जहाँ देखो वहीं बेचारी रोटी वाले की खोज में लगी रहती है। इतने नाच-रङ्ग, दावत, जाफ़त, सब इसी एक मतलब से रची जाती हैं। स्वाधीनता के नाम से बेचारी कन्याओं को कैसी कैसी मुसीबतें उठानी होती हैं! कारलाइल नामक महाज्ञानी अंग्रेज़ का कथन है कि "स्वाधीनता है तो बड़ी अच्छी चीज़! परन्तु भूखों मरने के लिये स्वाधीनता कभी अच्छी नहीं होती।" यूरोप की कन्याओं की स्वाधीनता भी इसी सांचे की ढली होती है।

बाजा बजाना, गाना, कालेज में पढ़ना, अधनंगी हो कर नाचना, कूदना यह सब वहाँ की सभ्यता की शिक्षा के अङ्ग हैं। इनकी क्या आवश्यकता है? वही पुरानी बात विवाह ! इन बेचारियों को हाव-भाव की भी शिक्षा सीखनी पड़ती है। हाव-भाव से मतलब, कोई पुरुष आये तो उसका मन हर लेने के लिये उठना, बैठना, नखरे दिखाना, इत्यादि ही है। इन्हीं हाव-भावों, इन्हीं सभ्यता के अंगों को सीखने के लिये बेचारियों को अपनी माताओं से धमकियाँ घुड़कियाँ सुननी पड़ती हैं। जो ऐसा न करेगी, जो पुरुषों का मन अपनी चटक मटक से बहला न सकेगी तो आगे चलकर उसे खाना-कपड़ा कौन देगा? माँ-बाप कहाँ तक उसे पालेंगे? मर्द के लिये जैसे रोज़गार, नौकरी चाकरी है, स्त्री के लिये उसी भाँति मर्द की गुलामी करना उसकी पत्नी बनना भी रोज़गार या नौकरी है। जैसे बेरोज़गार मर्द, वैसे अन ब्याही स्त्री। स्त्री पियानो इसी लिये बजाती है जिस लिये उसका भाई कोई पेशा सीखता है, मतलब-

वहीं एक ही बात हंड़िया की खुद बुद, दाल रोटी का मामला। फिर स्वाधीनता कहां रही ?

ब्याही जाने के लिये, वा ब्याहने को अच्छे पुरुषों का मन मोह लेने के लिये, शिक्षाकाल में तो बेटियों को गाना, बजाना टमक मसक, सभी बातें सीखने के लिए अपनी माताओं से ताड़ना खानी ही पड़ती है, परन्तु यौवन में भी उनकी दुर्दशा बहुत बुरी तरह होने लगती है। रात दिन वह पुरुषों का मन मोहने की जुगत सोचा करती हैं। जो समय उनको धर्म चर्चा, सच्ची शिक्षा, गृहधर्म आदि में बिताना चाहिए, वह समय नाच में, रंग में, खेल में, कूद में, अपने हृदय को कलुषित करने में, खर्च होता है। किसी मर्द को अपना भर्त्ता बनाने के लिये उन्हें खुशामदी, भांड़, दिल्लगीबाज और नचैये की श्रेणी में उतरना पड़ता है। है तो यह अवनति, पर लोग इसको उन्नति कहते हैं। फिर इन कामों के करने से नवयौवना कन्याओं को कैसे कैसे लालचों में, कैसी-कैसी पाप चिन्ताओं में डूबी रहना पड़ता है, और बहुधा उनको सचमुच कैसी निर्लज्ज दशा में गिरना पड़ता है, उसका कहना ही क्या है ? क्या इस भांति स्वयम्वरा होने से हमारे देश की विवाह-पद्धति बुरी है ?

और विवाह की इच्छा रखने वाले सभ्य पुरुषों की बात क्या कहें ? वे जैसा चाहते हैं उनको प्रसन्न करने के लिए स्त्रियों को वैसा ही करना पड़ता है। उन्हीं के लिए बेचारी सरला, सीधी सादी, पवित्र कुल कन्याओं को इतने दुःख झेलने पड़ते हैं। तिस पर भी सभ्यताभिमानी पुरुष महाराज स्त्रियों का कितना आदर करते हैं, इस बात को अंगरेजी कवि किपलिंग ही ने एक जगह साफ कह दिया है। एक स्त्री ने कहा, तुम "चुरुट मत पिया करो। चुरुट पीने से तुम्हारी देह से बड़ी 'बुरी बास आती है। चुरुट पियोगे तो मैं तुम से विवाह नहीं करूँगी।"

पुरुष महाराज सोच रहे हैं 'नहीं, नहीं, स्त्री के लिए मैं अपने आराम की चीज नहीं छोड़ूँगा। स्त्रियां तो एक नहीं सन मानी मिल जायगी,—चुरुट तो चुरुट ही है।' मतलब यह, कि पुरुष अपने स्वार्थ के सामने स्त्री का मूल्य एक चुरुट से भी तुच्छ समझता है। यह हमारे असभ्य भारतवर्ष की बात नहीं है। इस बात से एक महा सुसभ्य समाज के महा प्रतिष्ठित कवि ने अपने समाज का चित्र दिखाया है।

जब भारतवर्ष की नारी को पति, घर और सुख के सभी साधन आप से आप घर बैठे मिल जाते हैं, तब क्या उसकी दशा अपनी पश्चिमी बहिनों से श्रेष्ठ नहीं है ?

पश्चिमी नारी को इतना करने पर भी पति नहीं मिलता। बहुत से पुरुष अपना विवाह ही नहीं करते। वे भौंरों की भांति पुष्प से पुष्पान्तर में उड़ उड़ कर मधु चाखा करते हैं। अहा, कैसा अच्छा सम्मान है इन सभ्य पुरुषों का अपनी स्त्रियों के लिए।

जब बहुत से पुरुष विवाह नहीं करते तो बहुत सी स्त्रियां अविवाहिता रह जाती हैं। उनका क्या होता है ? जन्म भर 'हाथ ब्याह हाथ ब्याह,' करती करती बुढ़िया हो जाती है, उनके मन का अरमान उनके साथ-साथ कब्र में गड़ जाता है। और पेट भरने के लिये उनको दफ्तरों में लिखना पढ़ना, स्कूलों में पढ़ाना, दुकान में दर्जी के कपड़े सीना, बाजा सिखाना, धनी परिवारों के लड़कों को पालना इत्यादि काम करके पेट भरना पड़ता है। एक एक डाकखाने में स्त्रियां खिड़कियों के सामने अपनी नौकरियों पर दिन दिन भर खड़ी रहती हैं। बहुत स्त्रियां अपने घरों में किरायेदार बसा लेती हैं। और उनके लिये भोजन बनाती हैं, उनकी कोठरियों की झाड़ू बुहारी करती हैं, उनके बिछाने बिछाती हैं, उनके जूतों में स्याही लगाती हैं, और इसी भांति किरायेदारों

की दासी बन कर जन्म काटती हैं। ये स्त्रियां बहुधा लिखी पढ़ी और भले घरों की होती हैं, तब भी इनको पेट के लिए नीच वृत्तियां करनी पड़ती हैं। और यूरोप वाले, जो स्त्रियों का इतना सम्मान करते हैं, अपनी बहिनों, बेटियों, भतीजियों से इस तरह काले आदमियों की गुलामी कराना बुरा नहीं समझते, पर आप उनको खाने के लिये एक टुकड़ा भी नहीं देते। इन बेचारी असहाया नारियों को देखकर विलायत में गये हुए हिन्दुस्तानी मनमें सोचते हैं क्या इनके भाई, बाप, चचा या कोई आत्मीय नहीं है जो बेचारियां अकेली ज्यों त्यों करके अपने पेट पालने को छोड़ दी जाती हैं। जहां स्त्रियों की इतनी इज्जत की डींग सुनते थे, क्या इनके आत्मीयों को इनकी इज्जत की परवाह ही नहीं है ? इस बनियाशाही में जहां लोग परस्पर लूटने ही को मिला करते हैं, क्या इस देश में स्त्रियों का अस्तित्व ही मिट जायगा ?

कुछ स्त्रियां जिनके पास धन तो है, अपने धन बल से पुरुष पा जाती हैं। उनका सम्मान तो ऐसा ही वैसा होता है, उनके लिये किसे क्या पड़ा है, परन्तु उनके धन के लालच से शहद पर मक्खियों की भांति पुरुष उनके पीछे लगे रहते हैं। धन के लालच से विवाह यूरोप में एक साधारण बात है।

कहने को लोग अपने मुंह आप लाख मियां मिट्ठू बना करें, पर सभ्य देश की बात ऐसी ही है। स्त्रियों के सामने दिखावटी सम्मान और झुक-झुक कर सलाम एक प्रकार की कसरत या जिमनास्टिक हो है। हम लोगों को तो देख-देख कर हँसी आती है।

विवाहित जीवन स्त्री को बुरा नहीं लगता। अब विवाह में इतनी कठिनाइयां होने लगीं, सभी पढ़ी लिखी स्त्रियां कोई डाक्टर होती हैं, कोई वकालत सीखती है, कोई सम्पादक बनती

है। परन्तु जब इन पेशों में मर्द ही भूखों मरते हैं तब स्त्रियां भी यदि मर्दों के कामों में हिस्सा बटाने लगेंगी तो उनको क्या मिलेगा? वे बेबस होकर ही ये सब काम करती हैं। नहीं तो स्त्रियों का स्त्रीत्व गृहस्थी ही में फलाभूत हो सकता है। विवाह के बाजार में कोई उनको नहीं पूछता, पारिवारिक सुख की उनको आशा नहीं रहती, तभी बेचारियाँ दूसरे पेशे करती, ढूढ़ने लगती है। और उन्हें धनोपार्जन के लिये लोभ, ईर्षा, चालाकी आदि से सहायता लेनी पड़ती है, जिनके फंदे में पड़ कर स्त्रियों का स्त्रीत्व, उनकी कोमल वृत्तियां धीरे धीरे नष्ट भ्रष्ट हो जाती हैं। यदि कोई स्त्री इन सब झगड़ों से अलग रहने के कारण कुछ अज्ञानता ही में रहती हो, तो ऐसी अज्ञानता भी अच्छी है। ऐसी अज्ञानता उसको संसार की कुटिलता और दुष्टता से तो बचा रखती है। परन्तु दिन दिन आगे बढ़ने वाली यह सभ्यता बेचारी स्त्री को भी घसीट कर दूकानदारी में खींच लाती है, स्त्री को भी झूठ बोलना धोखा देना, मोल भाव और लेन देन करना पड़ता है; उसको भी सस्ते में लेने और महंगे भाव में देने की नीति सीखनी पड़ती है। इस भांति की स्त्री-स्वाधीनता दो धार की छुरी का काम करती है। या यों कहिये कि छुरी के घाव पर निमक छिड़कती रहती है; क्योंकि पहिले तो स्वाधीनता स्त्रियों का स्त्रीत्व—उनकी गृहस्थी का राज पाट छीन लेती है। दूसरे ऊपर से उनके सिर जीविका की चिन्ता भी मढ़ देती है। इसी से यूरोप के जेण्टिलमैनों के स्त्री सम्मान का दृष्टांत मिल जाता है।

यह तो अनब्याहियों की बात हो चुकी। विवाहिताओं की दशा भी अच्छी नहीं होती। उनके पुरुष उनसे सच्चे प्रेम का बर्ताव नहीं रखते और एक फरासीसी लेखक ने साफ साफ लिख दिया है कि पुरुष के दो तरह की स्त्रियां होती हैं, एक विवाहित

और दूसरे साधारणतः दो, एक, वा और भी अधिक रक्षिता। वहां के लोग खुल्लमखुल्ला तो एक ही विवाह करते हैं परन्तु अधिकांश लोग बहुपत्नीक होते हैं, चाहे वह पत्नी धर्मपत्नी न भी हो।

उच्च और मध्यम श्रेणी की शिक्षा की बात जो सुना जाता है वह बिलकुल ऊपरी शिक्षा होती है, गहरी शिक्षा नहीं कही जा सकती। कालेजों में जाने वाली स्त्रियां भी कुछ गम्भीरता या बुद्धि की बातें नहीं सीखतीं। किसी के मन की गहराई जांचनी हो तो उससे बात चीत करो। इन शिक्षाभिमानी स्त्रियों से बात करने में तबियत ऊबने लगती है। सिवाय पराई चर्चा के और कुछ उनको नहीं सुहाता। घर पर पढ़ती भी हैं तो नावल। हिन्दुस्तानी तो शक्की या 'सुपरस्टिशस' के नाम से बदनाम हैं ही परन्तु ये पढ़ी लिखी सभ्य स्त्रियां भी पक्की 'सुपरस्टिशस' होती हैं। इसलिए पाखंडियों को इन लोगों में तिजारत करने का अच्छा अवसर मिलता है। अमेरिका सायन्स या विज्ञान की भूमि है, परंतु वहां भी झूठी बातों की चर्चा यानी 'सुपरस्टिशन' पायी जाती है। हाथ देख कर भला बुरा बताने वाले या जादू वाले शहरों में उतनी ही अधिकता से पाये जाते हैं जितनी कि नाऊ या धोबी। प्रेम की चुटकियों, यानी यन्त्र मन्त्र गंडे तावीज का व्यापार भी बड़े जोर से चलता रहता है। फिर उनकी शिक्षा को शिक्षा कैसे कहें! और अपने देश की स्त्रियों को जो सच्ची शिक्षा—गृहस्थी की शिक्षा दी जाती है उसे भी कैसे सत्य न मानें? फिर कैसे कहें कि वहां की स्त्रियों की दशा यहां वालियों से उन्नत है। दोनों बहुत सी बातों में एक ही सी देख पड़ती हैं।

ऊपर हम जो कुछ कह आये हैं, वह सब उच्च और मध्यम श्रेणी वालियों की बात है। अब तनिक नीच श्रेणी वा मजदूर

जाति की नारियों की बात सुनिए। किसी देश की सच्ची दशा देखनी हो तो निरे महलों ही की सैर मत कीजिये गली कूचों का, पर्णकुटियों का भी दर्शन करना जरूरी है। जहां के श्रमकार लोग प्रसन्न हैं, वहां की महा-जाति भी बहुत प्रसन्न होगी। इस से श्रमकार जातियों ही के अवलोकन से महा-जाति की सच्ची दशा जान पड़ेगी। पश्चिम की श्रमकार जातिकी दशा तो पहिले देखना चाहिये। वहां की स्त्रियों को भयंकर कठिनाई और विपत्ति युद्ध करना पड़ता है। श्रमकर जाति की स्त्रियां तो मानो मोल ली हुई गुलाम है। छोटी छोटी लड़कियों को कारखानों में अपनी शक्ति से बाहर परिश्रम करना पड़ता है। माताएं भी अपने बच्चों को छोड़कर कारखानों में काम करती हैं। अब जर्मनी में दान-सभा बनी है जिससे बच्चा जनने के बाद माताओं को छः हफ्ते तक खाने को मिलता है, परन्तु इस समय के पीछे वे फिर कारखानों में घुसती हैं, नहीं तो भूखों मर जाँय। कहीं कहीं बच्चों के रहने के लिये कारखानों में एक जगह बनी रहती है, जहां माताएं काम से छुट्टी पाते ही जाकर उनको दूध पिला आती है। परंतु यह सुख सब जगह नहीं मिलता सब जगह दूध पीते बच्चे तक काम के समय मा के पास नहीं ठहरने पाते। फल इसका यह होता है कि अकेले जर्मनी में बीस लाख बच्चों में से चार लाख जन्म लेने के पहिले ही वर्ष में मर जाते हैं। इसी का नाम है सभ्यता! इसी सभ्यता का दम भरने वाला यूरोप है! स्त्रियों को सवेरे से शाम तक कारखानों में काम करना पड़ता है। तब वह घर जाकर फिर रात में काम करती हैं। अमेरिका के बड़े बड़े कारखानों में जहां भद्र घर के मनुष्य रेशम, साबुन इत्र, फीते आदि मोल लेने जाते हैं,—वहां युवती स्त्रियों को दिन भर बारह चौदह घंटे काम करने पर जो मजदूरी अमेरिका के सिक्के में मिलती है, हिन्दुस्तानी सिक्कों में उसका

मूल्य डेढ़ आने के पैसों से ज्यादा नहीं होता। चौदह घंटे की मेहनत से छः पैसे की आमदनी युरा स्त्रियों की हुई। दिन भर उनको खड़ी रहना पड़ता है, और इससे उनका शरीर भी जल्दी टूट जाता है। किन्तु यूरोप के बांके छैले जेन्टिलमैन, जो अपनी स्त्रियों का इतना अधिक सम्मान करते हैं, कभी अपनी इन गरीब बहिनों की ओर ताकते तक नहीं। अकेले युनाइटेड स्टेट्स ही में ऐसी ६० लाख अबलाएँ हैं जिनको दिन भर पसीने बहाने पर दो आने से ज्यादा नहीं मिलता। और उनसे परिश्रम इतना लिया जाता है कि कोई साधारण धोबी अपने गधे से भी इतना परिश्रम नहीं लेता होगा। न्यूयार्क में कुछ परदेशी परिवार रहते हैं जिनकी स्त्रियां आधी रात बीतने तक नकली फूल, जालियां, टोपी, आदि बना कर एक आना रोज कमा लेती हैं। वे रहती ऐसे कोठरियों में हैं जहां सूअर भी रहने से घृणा मानेंगे।

अब और ज्यादा लिख कर क्या होगा? जो लोग विलायती सभी बातों को अच्छा बताते हैं, वे विचारशील मनुष्य नहीं। यदि ये कुछ विचार करके दोनों देशों की दशा को मिलावेंगे तो उनको कहना ही पड़ेगा कि हिन्दुस्तान के लिये पुरानी हिन्दुस्तानी शिक्षा ही लाभकारी है। नई रोशनी के सभ्यताभिमानी जो हमारी स्त्रियों की दशा गिरी हुई समझ कर उसे विलायती ढांचे में ढालना चाहते हैं, वे देश के शुभचिन्तक नहीं हैं।

# राष्ट्र की सम्पत्ति

'जिनको अधिक दिया जाता है, उनसे अधिक ही की आशा भी की जाती है' एडम स्मिथ ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'राष्ट्रों की सम्पत्ति" में अर्थशास्त्र विषयक सिद्धान्तों की यही व्याख्या की है। परंतु वास्तव में राष्ट्रों की मुख्य सम्पत्ति या धन चांदी और सोना, अन्न और पशु नहीं है। हम इस लेख में बतलावेंगे कि मानव जाति और राष्ट्रों की वास्तविक सम्पत्ति क्या है और संसार की बुराइयों का नष्ट करने के लिए उसको कैसे काम में लाना चाहिये। दुनिया की स्थायी सम्पत्ति स्त्रियों और पुरुषों की बुद्धि और आचरण है। ज्ञान और चरित्र रूपी पूँजी सारे सुखों की पथप्रदर्शक है। मनुष्य समाज के शुभचिन्तकों को इस मूल धन के उचित उपयोग पर विशेष ध्यान देना चाहिये। इसके सदुपयोग अथवा दुरुपयोग पर ही जाति का भविष्य निर्भर है। हमारा भोजन और वस्त्र, हमारी औषधि और चिकित्सा, हमारे सुख और प्राकृत-सुख-साधन, हमारी सुन्दर सामाजिक संस्थाएं और हमारी सभ्यता की विस्मयोत्पादक विशाल रचनाएं, हमारा भूतकाल की कीर्तियाँ वर्तमान की कोशिशें और भविष्य के आदर्श इसी के सदुपयोग पर अवलम्बित हैं। मनुष्यों की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति भौतिक पदार्थों से होती है और ये भौतिक पदार्थ लोगों के आन्तरिक उत्कर्ष की वृद्धि और उसके संरक्षण या उचित उपयोग द्वारा उत्पन्न होते हैं। अफ्रिका की असभ्य जातियाँ प्रकृति के महान विभवों में रहते हुए भी अपनी मानसिक निर्बलता के कारण भूखों मरती हैं किन्तु सभ्य जातियां अपने विद्या और चरित्र बल के कारण स्काटलैंड के दलदलों और कनाडा के ऊजड़ स्थानों में बड़े चैन से जीवन व्यतीत करती हैं। जितना ही

लोग बुद्धि और आचरण का अधिक सदुपयोग करते हैं उतने ही अधिक वे दरिद्रता, मूर्खता और रोग से मुक्त होते हैं।

अन्तरात्मा वाह्य जगत पर प्रभुत्व प्राप्त करती है, अदृश्य दृश्य से प्रबलतर है, मन और अतःकरण द्वारा मनुष्य की शारीरिक आवश्यकतायें भी अधिकतर सम्पादित होती हैं।

आइये, जरा देखें! भारतवर्ष के लोग अपनी बुद्धि का, उस दुर्लभ और दुष्प्राप्य शक्ति रूप बुद्धि का, जो किसी जाति के सामाजिक शरीर को रचकर खड़ा कर देती है और जो प्रकृति के गुप्त भेदों को उसके कृपण हाथों से छीन कर मानव जीवन को सौन्दर्य और गौरव प्रदान करती है कैसा दुरुपयोग कर रहे हैं? यह दुरुपयोग तीन प्रकार के किया जा रहा है (१) दुष्टाचार द्वारा धन कमाने में (२) मिथ्या दर्शन-शास्त्र के प्रचार में और (३) मनोरञ्जन में।

(१) वर्त्तमान भारत में ऐसे लोगों की एक बहुत बड़ी संख्या है जो अपनी मानसिक शक्तियों पर अत्याचार कर रहे हैं और जो बुद्धि ऐसे पवित्र उपहार का घृणित स्वार्थ की पूर्ति और धन की प्राप्ति के लिए बलिदान करते हैं। पुरानी चाल के पण्डित इस दोष से किसी कदर मुक्त हैं इसका कारण यह है कि बनारस और नदिया के पण्डित धन कमाने के लिये ही विद्यार्थियों को शिक्षा नहीं देते। यह बड़ी चिन्ता की बात है कि हमारे बीच में पढ़े लिखे किराये के टट्टुओं की एक ऐसी बड़ी तादाद बढ़ रही है जो अपने भाइयों पर मुसीबत और बरबादी लाकर अपनी जीविका कमाते हैं। इस प्रकार भारतवर्ष की विद्या और बुद्धि देशवासियों के लिये सुखकारक और बलदायक न होकर उलटा उनका हनन कर रही है। यह बड़े शोक की बात है कि दुनिया के सब मुल्कों में बुद्धि धन के हाथ करीब २ हमेशा से बिकती

आई है विद्या और बुद्धि का इस प्रकार बेचना उतना ही निन्द-नीय है जितना कि एक खूबसूरत औरत का अपनी खूबसूरती की तिजारत करना। बुद्धि को समाज और देश की उन्नति करने में लगाना चाहिये क्योंकि यह ऐसा ताकतवर और जबरदस्त हथियार है कि यदि किसी ने निज के स्वार्थों और मन्तव्यों के सम्पादन करने में इसका दुरुपयोग किया तो वह समाज को चकनाचूर करके व्यक्तियों में सिर फुटव्वल करवा देता है और शताब्दियों की सामाजिक उन्नति को नष्ट कर देता है। बुद्धि बलधारी पुरुषों को चाहिये कि वे अपनी बुद्धि का दुरुपयोग कदापि न होने दें क्योंकि बुद्धि के उपयोग या दुरुपयोग से ही उनका जीवन संसार के लिये आशीर्वाद वा शाप तुल्य हो सकता है। वर्तमान भारत दौलत के लिये दीवाना हो रहा है और इस असर से विद्वान भी अपने आपको नहीं बचा सके हैं। इनको उचित तो यह था कि सत्य और न्याय के प्रचार में अपने आपको न्यौछावर कर देते किन्तु इसके विरुद्ध बहुतों ने अपने को असत्य और छल की फ़ौज में भरती हो जाने दिया है। इन वैतनिक सेवकों के बिना धनी लोग एक दैत्य का बल रखते हुए भी किसी को हानि नहीं पहुंचा सकते। भारत के बुद्धिमान, विद्वान, धनवानों और अभिमानियों के द्वार पर रोटी के टुकड़े माँगने में तत्पर हैं और ग़रीब और निर्बल पीसे जा रहे हैं।

( २ ) भारतवर्ष में तत्वज्ञान वा ब्रह्मज्ञान मूर्खता का सदैव से सहायक रहा है। अर्थात् ज्ञान के नाम से बहुत कुछ अज्ञान का प्रचार किया गया है। प्रथम तो भारतवर्षीय 'विद्वानों की अधिकतर मानसिक शक्ति धनोपार्जन रूपी आखेट में खर्च होती है और बाकी जो बचती है उसे शुष्क ज्ञानवाद हड़प कर जाता है। शुष्क ज्ञानवाद भारत के लिए एक शाप सिद्ध हुआ

है। इसने इस देश के इतिहास के रूप को बिगाड़ कर उसको सत्यानाश कर दिया। इस मिथ्याज्ञान के फेर में पड़कर बड़े-बड़े आदमी बकवादी और बातूनी हो गये और वे निष्प्रयोजन और निष्फल गवेषणाओं और और प्रयत्नों में शताब्दियों से अपनी बुद्धि को नष्ट कर रहे हैं। इसके कारण जल्प और वितण्डा ने एक शास्त्र की पदवी प्राप्त कर ली और निःसार और खोखली कल्पनाओं को तत्वज्ञान का स्थान मिल गया है। भारतवर्ष के बड़े-बड़े पण्डित सैकड़ों वर्ष से एक ऐसे अंधकूप में पड़े हुए हैं कि उन्हें नितान्त ऊटपटांग बातें भी सच्चाइयाँ प्रतीत होती हैं। इस झूठ ज्ञान की बदौलत हमारे लिए अन्धकार प्रकाश हो गया और हम शब्दजाल रूपी भूलभुलैया को बड़े-बड़े जटिल प्रश्नों का अन्तिम निर्णय समझ बैठे। हमारी विचार शक्ति कितनी नष्ट हुई है इसका हिसाब हम नहीं लगा सकते। इसने कैसी-कैसी महान् आत्माओं को दासत्व की शृंखला में जकड़ कर बरबाद कर दिया! जिस प्रकार कोई देश-द्रोही शत्रु से मिलकर अपने ही देश की हार का कारण होता है उसी तरह भारतवर्षीय ब्रह्म-ज्ञान, सच्चाई का दिली दुश्मन, अपने असली रूप को सदैव वाग्जाल में छिपाते हुए हमारी अवनति का कारण हुआ। इस देश में जो विद्वान् जितना अधिक अहंकारी, ढोंगी, बातूनी और हठी हुआ वह उतना ही अधिक प्रमाणिक समझा गया। इन ब्रह्मज्ञानियों की ऊलजलूल शब्द रचनाओं ने सच्चे और पुष्ट विचारों का स्थान छीन लिया। भारतवर्ष ने इस ब्रह्मविद्या रूपी मनमोहनी स्त्री के प्रेम में पड़कर बहुत नुकसान उठाया है। बुद्धदेव ने हिन्दुओं को दार्शनिक मतभेदों से दूर रहने का उपदेश दिया था परन्तु उस महापुरुष का कहना निष्फल हुआ और उसके उपदेशों का उपहास उड़ाया गया।

जिस तरह एक साँप की जबरदस्त आकर्षण शक्ति से एक चिड़िया उसके मुँह में खिच जाती है उसी तरह हिन्दुओं की बुद्धि इस ब्रह्मज्ञान की ओर खिंच जाती है। इसने हिन्दुओं की कलाओं और विद्याओं की जड़ काट दी है। आओ अब हम इसका अन्त करें। इस ज्ञान की उत्पत्ति मनुष्य-जाति की बाल्यावस्था में हुई था, परन्तु शोक इस बात का है कि हिन्दुस्तान बालिग होकर भी लड़कपन के खेलों से अब तक खेल रहा है। यदि ऐसी अवस्था में उसे पश्चिम का शिष्य बनना पड़े तो आश्चर्य ही क्या है!

यह कैसे दुःख की बात है कि वे लोग भी, जो जाति का भला करना चाहते हैं, अपनी शक्ति का दुरुपयोग कर रहे हैं और रोटी की जगह पत्थर दे रहे हैं। एक ओर तो दुर्भिक्ष महामारी और मलेरिया देश का सत्यानाश कर रहे हैं और दूसरी ओर हमारे ब्रह्मज्ञानी महात्मा ब्रह्मविद्या के रहस्यों और नित्यानित्य पदार्थों की खोज में लगे हुए हैं। देश भर में ऐसा एक भी कलाकौशल का विद्यालय, विज्ञानालय पुस्तकालय नहीं है जिसे हम आदर्श कह सकें। पदार्थविज्ञान, अर्थशास्त्र और राजनीति इस देश के शिक्षित समुदाय के लिये भयावनी चीजें हैं।

मेरे मित्रो! जहाँ तुम अपने शास्त्रों की निष्प्रयोजनीय बातों को पढ़कर आनन्द में मग्न हो जाते हो और उनकी प्रशंसा में मैक्सम्यूलर और शोपनहार के मत को उद्धृत करने लगते हो वहाँ दुनिया वैज्ञानिक आविष्कारों, आर्थिक सुधारों और राजनीति के आन्दोलनों में आगे बढ़ती चली जा रही है। उपनिषद् चिल्ला-चिल्ला कर कह रहे हैं कि उस तत्व को जानो जिसके ज्ञान से सब कुछ जाना जाता है। हमारी समझ में भारतवर्ष के मध्यकालीन दार्शनिकों की यह मिथ्या कल्पना ही यहाँ शुष्क

मायावाद और आत्मवाद आदि निःसार वादों की जड़ है। भारतवर्ष की पुस्तकें असम्भव प्रलापों, विलक्षण कल्पनाओं और अस्तव्यस्त तर्कनाओं से परिपूर्ण हैं। शोक है कि हम अब तक इस बात को नहीं समझते। हम अब भी पुरानी लकीर को पीट रहे हैं और पश्चिमीय साहित्य का अनुवाद करने के स्थान में हम पुरानी पुस्तकों को ही बार-बार सम्पादित करते जाते हैं।

यदि फ्रेडरिक हैरीसन, विरयूकज, बेबल, अनाटोल फ्रांस, हवें, हैकल, गिडिङ्गज और मार्शल आदि विद्वान् डन्सस्कोटस और अक्वनीस आदि पर ग्रन्थों की रचना करते अथवा पेन्टाटियुश के कानून और बेग्रोवल्फ की कविता पर टीका करते तो आज योरप की क्या हालत होती? उनकी समझ में हमारे पंडित और शिक्षित लोगों में प्राचीन काल की निष्फल बातों में लगे रहने की झक सी हो गई है। उन्नत विचारों के रखनेवाले कुछ आदमी मिलकर एक विद्यालय स्थापित करते हैं और उसका उद्देश्य व्याकरण और छहों शास्त्रों द्वारा वेद की शिक्षा देना होता है। बुद्धि प्राप्त करने का यह कैसा झूठा रास्ता है। यह तो ऐसा ही हुआ कि एक यात्री-दल जल प्राप्त करने के लिये सारे रेगिस्तान को पार कर डेडसी (Dead sea) के किनारे पर पहुंचे। भारतीय युवको! तुम अपनी ब्रह्मविद्या की सड़ी गली पुस्तकों से बुद्धि प्राप्त करने की आशा मत रखो। उनमें शब्द-जाल के सिवा और कुछ नहीं हैं। यदि तुम जीवन के महत्व और उसके प्रश्नों को समझना चाहते हो तो रूसो और वाल्टेर, प्लेटो और एरिस्टाटिल, हैकल और स्पेन्सर, मार्क्स और टाल्सटाय, रस्किन और काम्ट और अन्य पाश्चात्य विद्वानों के ग्रन्थ पढ़ो। तुम आज से तीन हजार वर्ष पूर्व के जमाने में नहीं रहते हो। तुम देहाती छकड़ों में सवार नहीं होते हो, तुम्हें हाथ की लिखी हुई पुस्तकें अब पढ़नी नहीं पड़ती हैं। तब फिर क्यों तुम

अपने अध्ययन में इतने पिछड़े हो कि तुम्हें उसी पुरानी लकीर को पीटना पड़ता है जो तुम्हारे बुद्धिमान पूर्वज शताब्दियों के पहले खींच गये थे। तुम्हारे पूर्वज बुद्धिमान थे और अपने समय के लिये पूर्णतया उपयुक्त थे परन्तु वर्त्तमान काल के लिये और ही प्रकार के बुद्धिमान आदमियों की आवश्यकता है। किसी समय के लोग बुद्धि के ठेकेदार नहीं हो सकते। तुम भविष्यत् काल के योग्य बनने के लिये बहुत दूर के भूतकाल की ओर क्यों देखते हो ? ऐसा करना तो अवर्णनीय मूर्खता है। ब्रह्मविद्या को व्यर्थ समय गवाने वालों और मनमाने अर्थ लगाने वालों के लिये छोड़ दो और तुम अर्थशास्त्र और राजनीति के अध्ययन में लिप्त हो जाओ। कल्पित बातों के प्रेमियों ही को ईश्वर-विद्या के सिद्धान्तों पर लड़ने झगड़ने दो और उन्हीं को ईश्वर, ज्ञान और दर्शनों के अन्य गूढ़ तत्वों पर सरकुटौवल करने दो। हमारे सामने इससे कहीं अच्छा काम करने के लिये मौजूद है। जीवन काल थोड़ा है और काम बहुत से करने हैं। हमारे पास धार्मिक रूढ़ि और सिद्धान्तों के व्यर्थ झगड़ों में खर्च करने के लिये समय नहीं है हमारी दृष्टि में ये सब बातें एक ही सी है। हमें इस बात की आवश्यकता नहीं कि हम उनमें किसी प्रकार का अन्तर ढूंढ़ते फिरें। जरा पाश्चात्य देशों के उन बड़े २ विद्वानों की ओर देखो जो सामाजिक, राजनैतिक और वैज्ञानिक क्षेत्रों में गण्यमान्य समझे जाते हैं, जो आधुनिक सभ्यता के जन्मदाता हैं जिसके वैज्ञानिक खोज, सामाजिक समानता, स्वतंत्रता सहिष्णुता, तर्क (Rationalism) और भ्रातृभाव आदि मूल सिद्धान्त हैं। बेकन ने कहा है 'इतिहास मनुष्य को बुद्धिमान बनाता है।' उसके ये शब्द हो बुद्धिमत्ता से भरे हुए हैं। समाज शास्त्र ही बुद्धि का दाता है, ब्रह्मज्ञान अथवा ईश्वर-विद्या नहीं। वर्तमान काल में समाज शास्त्र ही

की दो प्रसिद्ध शाखायें अर्थशास्त्र-और राजनीति भारत के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध होंगी।

( ३ ) भारतीय शिक्षित लोगों की बुद्धि जिस तीसरी बात में खर्च होती है वह कल्पित साहित्य की रचना है; ऐसी कविता और उपन्यास की रचना में जिसमें, पुराने समय के प्रेम अथवा सामाजिक रीति का चित्र खींचा जाता है, हमारे कितने ही बङ्गाल, अवध, गुजरात और अन्य प्रान्तों के वर्त्तमान प्रतिभाशाली निवासी लिप्त हैं। इस प्रकार का साहित्य बहुत ही अच्छा और शिक्षाप्रद है परन्तु भारत के पास इस प्रकार के साहित्य का इस समय इतना बड़ा खजाना है कि उसे अभी उसकी बहुत दिनों तक कुछ भी आवश्यकता नहीं है। मनोरञ्जक बातों की रचना उस समय तक रुकना चाहिये जब तक हम विज्ञान और समाजशास्त्र की कमी की पूर्ति न करलें। भारत की बुद्धि का इस प्रकार अभी अपव्यय न होना चाहिये क्योंकि हमारे उपयोगी साहित्य का प्रत्येक विभाग बेतरह दरिद्र है। शिक्षा प्रदायिनी बातों के बाद मनोरञ्जन की बातों की रचना होनी चाहिये। आवश्यक बातों के पश्चात् आमोद प्रमोदकारी बातों की तरफ ध्यान देना उचित है।

भारत अपने राष्ट्रीय धन की दूसरी शक्ति अर्थात् अपनी नैतिक शक्ति को किस प्रकार खर्च करता है? वह उसका वैसे ही अपव्यय करता है जैसे वह अपनी मानसिक शक्ति का करता है। एकान्त में बैठकर विचार की तरङ्गों में गोते खाना भारतीय सपूतों का समय काटने का एक प्रिय ढङ्ग है। वे तुच्छ स्वार्थपूर्ण इच्छाओं और विचारों से तो परे हो जाते हैं सही परन्तु विचार और अकर्मण्यता के गहरे गढ़हे में गिर पड़ते हैं। वे त्याग का सिद्धांत सब बातों में ठूसते हैं। भारतवर्ष में इस प्रकार के सैकड़ों सच्चे और शुद्ध हृदय धारी युवा पुरुष और

स्त्रियां हैं जिनके पास तक लोभ और दुनियदारी नहीं फटकती; परंतु वे किसी भी प्रशंसनीय काम को नहीं कर सकते। ब्रह्म का साक्षात् प्राप्त करने के लिये वे पर्वतों पर आश्रम बना कर निवास करते हैं। अपने साथियों के साथ जीवन की कठिनाइयों का सामना करने के बदले वे नाना प्रकार के आसनों और अन्य रहस्यपूर्ण बातों द्वारा उच्च पद प्राप्त करके की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार के कितने ही संन्यासी यश अपयश, भूख प्यास धन और प्रभुत्व की कुछ भी परवाह नहीं करते। निस्सन्देह उन्होंने त्याग के बहुत ही उच्च पद को प्राप्त कर लिया है परन्तु शोक है उनके इस उच्चपद की प्राप्ति से उनके भाइयों का कुछ भी भला नहीं होता क्योंकि वे व्यावहारिक जीवन के नियमों से बिलकुल अनभिज्ञ हैं। वेदान्त सूत्र, उपनिषद् और "ओम्" शब्द का भजन ही उनकी जमा पूंजी है। उनकी समझ में "ओम्" शब्द ही संसार का सारा इतिहास और विज्ञान है। "ओम्" शब्द ही संसार की उस मानसिक स्तब्धता का कारण प्रतीत होता है जो 'आध्यात्मिकता' द्वारा भारतवर्ष में उत्पन्न हो गई है। जब किसी संन्यासी को कुछ काम नहीं होता तब वह 'ओम' शब्द की शरण लेता है। इस प्रकार के उत्साही परन्तु गुमराह मनुष्य और कर ही क्या सकते हैं ? उनकी जानकारी बहुत ही कम होती है। सामाजिक उद्धार नहीं, किन्तु व्यक्तिगत उद्धार ही उनका उद्देश्य है। रही राजनीति, उसे तो वे जानते ही नहीं। राजनीति का सम्बन्ध कर, चुङ्गी का भावपत्र ( Tariff ) श्रेणियों के झगड़े, पद और प्रभुत्व आदि सब सांसारिक बातों से है जिनके चक्कर में संन्यासी पड़ना नहीं चाहता। मैं एक बड़े विद्वान् ग्रेजुएट को जानता हूँ। वह त्याग-व्रत धारण करके हिमालय पर तीन वर्ष तक यह समझ कर उपनिषद् पढ़ता रहा कि संसार का सारा ज्ञान उन्हीं में भरा हुआ

है। तत्पश्चात् वह समझता था कि मुझे इस अध्ययन से पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो गया है और अब मैं दूसरों को ब्रह्म विद्या की शिक्षा दे सकता हूँ। इस उदाहरण से स्पष्टतया पता लगता है कि भारतवर्ष की कितनी नैतिक शक्ति नष्ट हो रही है। देश में त्याग का जो वर्तमान आदर्श है वह बहुत ही दूषित है। जिज्ञासु के सामने एक झूठा आदर्श रखा जाता है। सांसारिक चीजें समझ कर इतिहास और विज्ञान की बुराई की जाती है। 'आध्यात्मिक नाम का ज्ञान-जिसमें 'मुक्ति' और 'ओम्' शब्द के रटने की शिक्षा के सिवाय और कुछ नहीं हैं 'सांसारिक' कलाओं और विज्ञान से अच्छा समझा जाता है। इस प्रकार यह त्याग भारत का कुछ उपकार नहीं करता, उपकार तो दूर रहा—उलटा वह कुपथ में डालता और उसे शक्तिहीन करता है।

"समाधि" अथवा अचेत होजाना आध्यात्मिक उन्नति का अन्त समझा जाता है।

कितने आश्चर्य की बात है कि अचेत होजाने की योग्यता बुद्धिमत्ता का चिह्न समझा जाय। यदि किसी व्यक्ति में भावों का प्राबल्य है और बुद्धि की कमी हो तो उसका बेहोश हो जाना बड़ा ही सहज है। यही कारण है कि स्त्रियां तनिक तनिक बातों में बेहोश होजाया करती हैं। परन्तु भारत में "समाधि" योग का आठवां दर्जा माना जाता है और केवल परमहंस लोग ही इस पद को प्राप्त कर सकते हैं। धन्य है हम लोगों के भाग्य! कृत्रिम उपायों द्वारा एक अप्राकृतिक और अस्वाभाविक अवस्था की प्राप्ति को ज्ञान का चिह्न समझने की मूर्खता भारतीय दार्शनिकों ही के लिए विशेष रूप से सुरक्षित थी। कोई आश्चर्य नहीं यदि पुस्तकें और रसायन-शालायें बुरी समझी जाती हों क्योंकि किसी आदमी को अचैतन्यता प्राप्त करने के लिये किसी विद्या की

आवश्यकता नहीं। वाह ! वाह ! पूर्णज्ञान का क्या आदर्श है।

अमूल्य नैतिक शक्ति के अपव्यय होने का एक ढङ्ग भावपूर्ण उपासना भी है। कितने ही मत ऐसे हैं जिनके अनुयायी राम कृष्ण और अन्य देवताओं की उपासना करते हैं। भक्त लोग बाजा बजाते हुए भजन गाते हैं और इस प्रकार अपने भाव-वेग को बहुत ऊंचा उठा ले जाते हैं। वे प्रभु का नाम लेते-लेते प्रेम से रोने और नाचने लगते हैं। वे सारी संसारिक चिन्ताओं और कर्तव्यों को भूल जाते हैं। आत्मा की यह उन्नति नैतिक बल का सूचक है क्योंकि जो मनुष्य किसी भी विचार के बल से अपनी आत्मा को ऊंचा उठा सकता है उसके अन्तरिक भावों के अच्छे होने में संदेह नहीं। वह निरा सांसारिक मनुष्य ही नहीं है। उसके स्वभाव में कुछ ऐसे तार अवश्य हैं जिनसे सुन्दर मधुर राग निकालने के लिए उचित रीति से उनके छूने की आवश्यकता है। परन्तु नाच और गान मनुष्य के नैतिक बल के विकास करने के अच्छे उपाय नहीं हैं, क्योंकि इस रीति से हमें एक चैतन्य के बदले हजारों निर्बल-चित्त, अदृढ़, हृदयवेग की शृंखला में बद्ध मनुष्यों से मिलना पड़ता है जो किसी भी अच्छे व्योहारिक कार्य करने के योग्य नहीं। उनके इष्टदेव ही का नाम उन्हें उत्तेजित करता है। वे मामूली समझ से भी हाथ धो बैठते हैं और उनकी उपासना में उनको अच्छे नागरिक बनाने की कुछ भी शक्ति नहीं होती। रहा अर्थशास्त्र और राजनीति—ये बेहूदा सांसारिक बातें हैं। इन से और इष्टदेव से कोई सम्बन्ध नहीं। फिर भला भक्त को प्रतिनिधि-सत्ता से, देश में आने वाले और जाने वाले मालों की बात जानने से, क्या मतलब ? वह अपने उपास्य देव के ध्यान में मग्न रहता है और हर चीज में वह उसी को देखता है। वह अपने देवता

ही में बिलकुल समा गया है। भारतवर्ष ने ऐसे कितने ही भक्त उत्पन्न किये हैं। उनके चरित्र और कारनामों की एक किताब भी है जो उत्तरीय भारत में बहुत प्रसिद्ध है। परन्तु शोक! इस सारी भक्ति से देश का एक भी दुःख दूर नहीं होता। वह उल्टी कर्म-क्षेत्र से व्यक्तियों को जिनमें अनुभव शक्ति की विशेष मात्रा होती है घसीट ले जाती है। इस शिक्षा के बदले कि प्रत्येक दुखी बालक कृष्ण है और प्रत्येक कोशित मनुष्य राम है और इन्हीं कृष्ण और राम की उपासना करना मनुष्य का परमधर्म है—उसे उपासना का एक झूठा आदर्श दिखा दिया जाता है। कितने दुःख की बात है कि लोग सदा इधर उधर संसार भर में प्रेम करने के लिये चीजों को ढूँढ़ते फिरते हैं जब कि बिना खोज किये ही वे सब समय में बराबर प्यार करने योग्य एक दूसरे को सहज ही में पा सकते हैं। वे सूर्य और चन्द्र, वृक्ष और पशु, देव और देवियों, मृत वीर पुरुषों और स्त्रियों की पूजा करते रहे हैं और अब भी करते हैं परन्तु वे इस बात को बिलकुल भूल ही से गये हैं कि अपने ही आसपास के भ्रातृ मनुष्यों की सेवा करना ही सर्वोत्तम धर्म है। भक्ति की यह सनक उतनी ही हानिकारक है जितनी कि योगियों का योग कुछ लोग विचार और ध्यान में लिप्त हैं और कुछ गाने और नाचने में। इधर यह होता है और उधर अविद्या, दरिद्रता और रोगादि देश में विजय दुंदुभी बजाते हुए चले आरहे हैं।

भारत की नैतिक शक्ति अन्धविश्वास द्वारा भी नष्ट हो रही है। हमारे देशवालों की तीर्थयात्रायें और व्रत आदि की बातें बड़ी भारी नैतिक शक्ति की सूचक हैं। वह देश जो हजारों आदमियों को दूर दूर तीर्थ-यात्रा के लिए भेज सकता है—तीर्थ-यात्रा भी कैसी जिससे कितने ही फिर लौटते नहीं

यह नैतिक बल से शून्य नहीं समझा जा सकता। बद्रिकाश्रम और अमरनाथ की कठिन और भयानक यात्राओं में भय और मृत्यु को जितना तुच्छ समझा जाता है वैसा तुच्छ उन्हें शायद ही कहीं समझा जाता हो। भक्ति का फल प्राप्त करने की प्रबल इच्छा से अन्धविश्वास के ये सैनिकगण महावीरों की तरह वीरता प्रकट करते हैं। ये यात्रायें हमारे देश के साधारण लोगों के नैतिक बल का परिचय देती है और इन्हीं से उनके नैतिक वेग की मात्रा का अनुमान किया जा सकता है। परन्तु शोक, यह सारा वेग उसी प्रकार नष्ट हो रहा है जिस प्रकार पानी समुद्र में बरस कर नष्ट हो जाता है। सामाजिक और राजनैतिक विचारों की नितान्त शून्यता के कारण लोग अपने आत्मिक वेगों की तृप्ति इन्हीं मूर्खतापूर्ण रीतियों से कर लेते है। समाज शास्त्र का पढ़ने वाला जानता है कि धर्म केवल हमारे उच्चभावों का सहायक मात्र है और धार्मिक लोग अपने वाह्य लक्ष्य को बदल कर किसी भी काम में अच्छी सफलता प्राप्त कर सकते हैं। यदि अवसर दिया जाय तो वह मनुष्य जो बद्रिकाश्रम के दर्शन अथवा गङ्गास्नान के लिये अपने प्राणों पर खेल सकता है अन्य दूसरे अच्छे कामों में भी बहुत आत्मोत्सर्ग प्रकट कर सकेगा। भारतवर्ष में योग और अन्ध विश्वास लोगों की भारी नैतिक शक्ति को व्यर्थ की बातों में व्यय कर देते हैं विज्ञान और सामाजिक उन्नति के लिए कुछ रह ही नहीं जाता।

हमारे देश की नैतिक शक्ति का एक बड़ा भारी भाग छोटे मोटे सामाजिक दोषों के दूर करने में खर्च हो जाता है। इस रास्ते में काम करने वाले हृदय के सच्चे हैं परन्तु उनके काम करने की रीति ठीक नहीं है। बहुत से उत्साही युवकों ने दीनों में अनाज बांटने और रोगियों की सेवा सुश्रूषा

करने का प्रण करके दारिद्रव्रत धारण कर लिया है। ये युवक बड़े ही सज्जन और त्यागी हैं परन्तु वे नहीं जानते कि भारत ही में क्या किसी देश में भी भूख और रोग दान से दूर नहीं हो सकते। वे अज्ञान में पड़े हुए हैं। ऐसे भी लोग हैं जो मांस और मदिरा के निषेध का प्रचार करते हैं; जाति पाति का झगड़ा उठा देने का प्रयत्न करते हैं और इसी प्रकार के अन्य सुधार के कामों को करते हैं। ये लोग भी भूल करते हैं। वे सामाजिक कुरीतियों के कारणों का पता नहीं लगाते। केवल उनसे उत्पन्न बुराइयों ही को मेटना चाहते हैं। भारतवर्ष का नाश इसलिए नहीं हो रहा है कि कुछ आदमी मांस भक्षण करते हैं या खान-पान में ठीक नहीं हैं परन्तु उसके नाश का कारण केवल उनकी आर्थिक हीनता है। किन्तु हमारे देश के सुधारकों में से शायद ही कोई ऐसा हो जिसने देश की आर्थिक अवस्था पर एक भी पुस्तक पढ़ी हो। इस प्रकार मूर्खता-पूर्ण आदर्श निश्चित किये जाते हैं, व्यर्थ आन्दोलनों की रचना की जाती है और बहुत से नवयुवक गुमराह कर दिये जाते हैं। ज्यों-ज्यों मूर्ख अथवा चालाक आदमियों द्वारा इस प्रकार के व्यर्थ आन्दोलनों का जन्म होता है त्यों त्यों उन्नति का समय दूर होता जाता है। सब कुछ किया जाता है किया नहीं जाता वही जिसकी आवश्यकता है। हर तरह की छोटी २ बुराइयां किसी न किसी "देशभक्त" का चित्त अपनी ओर आकर्षित कर ही लेती हैं परन्तु असली बुराई जो सबसे बड़ी है, किसी न किसी तरह लोगों की दृष्टि से बच ही जाती है।

हम सिद्ध कर चुके हैं कि योग, भक्ति, तीर्थ-यात्रा, धर्म-प्रचार और अन्य व्यर्थ आन्दोलन ही भारत की नैतिक शक्ति के अपव्यय के जिम्मेदार हैं। हमारे सामने गंगा बह रही है किन्तु हम प्यासे ही हैं। यह कैसी बात है कि वह देश जिस

के सैकड़ों स्त्री और पुरुष प्रति वर्ष त्याग का व्रत धारण करते हैं ऐसी शोक जनक अवस्था में हो। मध्यकाल में योरप की अवस्था भी ठीक भारत ही की सी थी। वहां भी साधु सन्तों की कमी न थी और उनके होते हुए भी दुर्भिक्ष, रोग और दासता से वहां वाले सदा पीड़ित रहते थे। तेरहवीं शताब्दी में सेन्ट फ्रान्सिस और सेन्ट डामिनिक ऐसे नैतिक वीरों ने जन्म लिया और इस बात के होते हुए कि आज वह नैतिक बल में पहले से कम है आज २० वीं शताब्दी में योरप निवासी पहले से कहीं सुखी है। इसका कारण केवल यही है कि आज योरप में विद्या और बुद्धि पहले से बहुत अधिक है। १३ वीं शताब्दी में लोग गिरजों के घन्टे बजाते थे, और पापों से मुक्त होने के लिए भूखे रहते थे। जब प्लेग होता था तब टाट ओढ़ते और शरीर में राख मलते थे, परन्तु आज बीसवीं शताब्दी में ठीक इसके विरुद्ध होता है। लोग अच्छे भोजन करते हैं उत्तम कपड़े पहिनते हैं, नगर को साफ रखते हैं और प्लेगादि बीमारियों का सामना करने के लिए कोरन्टाइन आदि का बन्दोबस्त करते हैं। इस प्रकार विज्ञान की थोड़ी सी सहायता से आज कल मनुष्य जाति को उससे अधिक सुख प्राप्त होता है जो मध्यकाल की अत्यन्त भक्ति और तपस्या से भी न होता था। राजाओं और शासकों के प्रति ईसाई धर्म के गुरुओं और अधिकारियों के हुक्मनामे सुशासन में उतने सहायक न हो सके जितना कि आज साधारण प्रजा-सत्ताक सम्बन्धी नियमों का पालन और प्रचार है। आज ऐसी बड़ी बड़ी बुराइयां दूर हो गई हैं जिन्हें बड़े बड़े जोशीले उपदेश जरा भी न मिटा सके थे। मध्यकाल के सन्तों को काम करने का यथार्थ ढंग ही न मालूम था। सेन्ट फ्रान्सिस गरीबों को प्यार करता था। वह उनके दुःख दूर करने के लिए प्राण

तक देने को सदा तैयार रहता था। परन्तु उसे मालूम ही न था कि जागीरदारों और धनवानों के अत्याचार ही के कारण दारिद्रय का चारों ओर राज्य है और इनके अत्याचारों को रोकने ही से गरीब लोग स्वतंत्र और सुखी हो सकते हैं। फ्रांस की राज-क्रांति के करने वाले लोग नैतिक बल में पादड़ियों से कहीं कम थे, परन्तु उन लोगों ने साधु सन्तों और पादड़ियों से कहीं अधिक संसार का भला किया। इसका कारण यही था कि ये धार्मिक लोग बुद्धिमान नहीं थे और बुराइयों को जड़ पर कुठार चलाना नहीं जानते थे। पासच्योर और कोच साधू सन्यासी न थे परन्तु उन्होंने धार्मिक संस्थाओं से सम्बन्ध रखने वाली दाइयों से संसार का अधिक भला किय क्योंकि उन्होंने अपनी सब शक्तियों को रोगों के उचित रीति से नाश करने के उपायों ढूंढने में लगा दिया था। इस प्रकार योरप के मध्यकाल का इतिहास हमारे सामने बहुत सी शिक्षाप्रद बातें पेश करता है। उस समय धर्म का खूब दौरदौरा था और साधू सन्तों की भी अधिकता थी। परन्तु विज्ञान,अर्थशास्त्र और राजनीति से दूर रहने के कारण उनसे कुछ लाभ न था। ज्योंही १८ वीं शताब्दी के विद्वानों ने जाना कि धार्मिक रीति और नीति का सहारा ठीक नहीं—आधुनिक योरप 'प्रार्थनाओं' उपदेशों और पादड़ियों की आज्ञा से मुख फेर कर रसायन-शालाओं, राज सभाओं (Parliaments) और सोशलिज्म (Socialism-समानता के स्वत्व ) की उपासना करने लगा। जो फल निकला उससे विदित हुआ कि पुराने जमाने में नैतिक शक्ति के अपव्यय होने के कारण ही लोग कुरीतियों के पाश से जकड़े हुए थे। वाल्टेर, रूसो, मार्क्स, डार्विन लवाजियर, क्यूवीयर, लैपलेस, कैस्सन आदि, विद्वान इतने शुद्ध हृदय के न थे जितने सेन्ट बर्नार्ड, सेन्ट फ्रान्सिस और सेन्ट जेवियर

परन्तु आधुनिक योरप ने उस समय की अपेक्षा जब उसके नेता धार्मिक पुरुष थे, आज रोग दारिद्र्य, अन्याय और अविद्या पर कहीं भारी विजय प्राप्त की है। विजय का कार्य समाप्त नहीं हुआ, वह अभी जारी है, अन्तर केवल काम करने का ठीक ढङ्ग और ठीक विचारों का है उच्च नैतिक बल का नहीं। एक वीर सेनापति जिसे सैनिक बातों का ज्ञान न हो, एक साधारण सैनिक से जिसने थोड़ी सी भी सैनिक शिक्षा पाई हो परास्त किया जा सकता है।

राजपूताना के रेतीले नगरों में कौन एक बून्द पानी नष्ट करना चाहेगा ? तो भी आज हजारों अच्छे आदमी ऐसे हैं जो यदि वे बुद्धिमान हों तो देश की बहुत सेवा करते, परन्तु मूर्खता के कारण उनका अस्तित्व निष्फल और हानिकारक है। नैतिक बल का एक स्रोत निरन्तर बह रहा है। किसी भूमि को वह उपजाऊ नहीं बनाता और न किसी बटोही की प्यास ही उससे बुझती है। यह स्रोत निरन्तर एक ऐसे समुद्र में गिरता रहता है जिसमें व्यर्थ चेष्टाओं की लहरें लहराती हैं। भारतवर्ष के युवको ! तुम्हें इन नाशकारी बातों की ओर से पीठ फेर लेना चाहिये। तुम्हें जानना चाहिए कि रसायन-शास्त्र, चिकित्सा-शास्त्र, प्राणिशास्त्र, मनोविज्ञान और समाजशास्त्र ही आधुनिक वेद हैं और भूगोल, इतिहास, अर्थ-शास्त्र, राजनीति आदि वेदांग हैं। जब तुम्हारा हृदय मूर्खतापूर्ण जीवन की स्वार्थपूर्ण बातों से घबड़ा जाय तो विज्ञान और समाजशास्त्र की शरण लो और पाश्चात्य दुनियां में जाओ क्योंकि वही आधुनिक कलाओं और विज्ञान की माता है।

अपने व्यावहारिक जीवन की शिक्षा प्राप्त करने के लिए अपने प्राचीन ऋषियों के पद-चिन्हों पर चलने की चेष्टा मत करो। भविष्य के लिए ऋषित्व के नये आदर्श स्थापित करो।

लोगों को शिक्षा दो कि पुराने देवता मर गये और तीर्थ स्थान भी संसार के अन्य भागों में बन गये हैं। काशी और पुरी का समय था परन्तु अब काशी में भयानक मन्दिर, अधजली लाशों, मोटे सांड़ और मुसटन्डे पुजारियों के सिवा क्या रखा है? पुरी में विशूचिका और किनारे पर धीरे-धीरे टकराने वाली समुद्र की लहरों के अतिरिक्त और क्या है? अब तुम्हारे तीर्थ पेरिस, जिनोवा, बार्सीलोना, मिलवाकी, यासनिया पालयाना, जेना, हैडलबर्ग आदि हैं। आज कल पृथ्वी पर यही स्थान ऐसे हैं जिनकी ओर सब के हृदय बड़ी उत्सुकता से आकर्षित होते हैं।

भारतवर्ष के युवको! तुम्हें आधुनिक विचारों से प्रभावित होकर संसार के अन्य देशों के साथ पंक्ति में चलना चाहिये। कूप मंडूक बने हुए उस अधकच्ची अस्वादिष्ट रोटी को न खाते रहो जो तुम्हारे पूर्वजों ने बनाई थी; न तुम उसे खाते हुए मिथ्या गर्व से इस बात की झूठी शपथ ही खाओ कि वह तो बड़ी मीठी है। तुम्हारा देश भयानक कुरीतियों से जर्जरित हो रहा है। समाजशास्त्र और विज्ञान के अध्ययन की ओर ध्यान फेरो। देश की सारी शक्ति को उन प्रश्नों के हल करने में लगा दो जिनके हल की आवश्यकता है। वेदों की शिक्षा के स्थान में नीति, विज्ञान, अर्थ-शास्त्र और राजनीति को समझो, विद्या की खोज करो, कल्पित बातों के पीछे मत दौड़ो। आधुनिक समय में पुरानी हिन्दू पुस्तकों पर सान मत धरो।

राष्ट्र की सम्पत्ति का इस प्रकार चारों ओर अपव्यय हो रहा है। यह हृदय विदारक दृश्य है। भूतकाल की हमारी भूलें हमें बड़ी महंगी पड़ रही हैं। मनुष्य जाति अँधेरे में भटक रही है। जिनके नेत्र हैं वे पथ को सहज ही में देख सकते हैं। परन्तु उनके समान कोई भी अन्धा नहीं जो नेत्र रखते हुए भी रास्ते को देखना नहीं चाहते।

# कुछ भारतीय आन्दोलनों पर विचार।

मैं भारतवर्ष के कुछ वर्तमान सामाजिक आन्दोलनों पर विचार करना चाहता हूँ। हर एक आन्दोलन से उन्नति नहीं हो सकती। कोल्हू का बैल आगे बढ़ता है, पर वह अपने नियत घेरे के चारों ओर ही घूमा करता है। रास्तों का न जानने वाला एक यात्री यात्रा करने के लिए निकलता है। वह रास्ता भूल जाता है और इधर उधर मारा फिरता है। कुछ आन्दोलन ऐसे भी हैं, जिनसे हानि पहुँच सकती है। जिसे सोते सोते काम करने का रोग हो ( सोमनाम्बुलिज्म रोग का रोगी ) वह नींद में चल कर छत से नीचे गिर सकता है। पतंगा भी जो आप से आप आग में गिर कर जल जाता है, इस तरह के हानिकारक आन्दोलन का उदाहरण हो सकता है। इसी प्रकार सामाजिक कामों में हर तरह के आन्दोलन लाभकारक नहीं कहे जा सकते। क्या आन्दोलनों में भ्रमात्मक प्रयत्न, अनुचित जोशें और भूलों से भरी हुई चेष्टाएं नहीं होती हैं? दुःख और विपत्तियों से भरी हुई इस दुनियां में पापों और व्याधियों का सामना करने के लिये जितनी भलाई की जरूरत है, उतनी ही जरूरत बुद्धिमत्ता की भी है। युद्ध में जितनी आवश्यकता वीरता की है उतनी ही आवश्यकता युद्ध-कला के ज्ञान की भी है। मनुष्य जाति की भलाई के लिए किसी काम के आरम्भ करने से पहिले हर एक को इस बात पर अच्छी तरह विचार कर लेना चाहिये कि कहीं हम गलत रास्ते को न ग्रहण करलें और संसार को फिर पहले से भी ज्यादा हानि न पहुंचायें?

संसार में आत्मिक बल की मात्रा बहुत कम है। हम भूल से आत्मिकबल का एक कण भी फजूल नहीं खोना चाहते। सैकड़ों तरह की विपत्तियां हैं। वे बड़ी ही प्रबल हैं। वे संसार

को कुचल रही हैं, संसार का कोई भी देश उनसे बाकी नहीं है। दरिद्रता अकाल-मृत्यु, बीमारियां, नैतिक और सामाजिक कुरीतियां, अज्ञान और दुष्टता आदि ऐसी आफतें हैं जिनके मारे पृथ्वी बोझ से दबी-सी जा रही है। उन लोगों की संख्या बहुत ही थोड़ी है जो इन विपत्तियों को दूर करने का प्रयत्न करते हैं। उन पवित्र आत्माओं की बड़ी ही कमी है जिनका हृदय संसार के दुःखित हृदयों की गति को परख लेता है, और उनका कान उस आर्तनाद को—चाहे यह आर्तनाद पहाड़ में होता हो या घाटी में, मैदान में होता हो या वन में, सुन लेता है। और जब हम भारतवर्ष को—उस भारतवर्ष को जो दुर्भाग्य का लाड़ला बच्चा हो रहा है—उस भारतवर्ष को जो आज तरह तरह की विपत्तियों और व्याधियों का शिकार हो रहा है—देखते हैं, तो हमें पता लगता है कि यहां आत्मिक बल की बहुत ही कमी है। यहां के नैतिक बल का स्रोत सूख गया है और देश नैतिक मौत से मरे हुए लोगों की लाशों से जिन्दा कब्रिस्तान बना हुआ है। अफ्रिका के सहारा मरुस्थल में 'ओसिस' (पेड़ों के कुञ्ज) बहुत कम और दूर दूर पर है। भारतवर्ष में आत्मिक बल रखने वाले आदमियों की संख्या सहारा के इन ओसिसों से भी कम है। और इतनी कम है कि इनकी गिनती उंगलियों पर गिनी जा सकती है। जब यह दशा है तब यह बात जरूरी है कि जो कुछ आत्मिक बल हमारे देश में है उसे हम अंधे हो कर नहीं बल्कि समझ बूझ कर खर्च करें।

यदि संसार का एक भी अच्छा आदमी या स्त्री अच्छे रास्ते से भटक जाय तो वह संसार के लिये एक विपत्ति सिद्ध हो सकती है। काम हों पर वे ठीक हों। भारत इतना गरीब है कि एक-एक कौड़ी उसके लिए बहुमूल्य है। अन्य देशों में देशभक्तों और मानव-जाति के प्रेमियों के झुंड के झुंड हैं। वे लोग अपने

देश का हित सदा सोचा करते हैं। परन्तु भारतमाता अपने कुछ अयोग्य, भीरु और गुमराह बेटे और बेटियों ही पर गर्व कर सकती है, जो कभी-कभी उसके भविष्य के विषय में कुछ सोच लिया करते हैं। ऐसी नैतिक गिरावट और बुद्धि की दरिद्रता पर रोटी का एक सूखा टुकड़ा भी किस प्रकार किसी को हाथ उठा कर दिया जा सकता है। विलासिता के लिए एक फूटी कौड़ी का भी खर्च करना कैसे उचित कहा जा सकता है? भारत के सारे युवकों और युवतियों पर बड़ी भारी ज़िम्मेदारी है। उनका कर्तव्य है कि सारी कठिनाइयों पर पूरा पूरा विचार करते हुये अपनी योग्यता और अपनी शक्ति को देश के दुःख दूर करने के लिये लगावें। अब आओ, देखें, उन आन्दोलनों में जिनकी आज भारतवर्ष में धूम है, कहां तक इन बातों के अनुसार काम किया जाता है। इससे पहिले कि वे बुरे या भले कहे जांय मैं उनमें से दो के ऊपर विचार करता हूँ।

## (१) नीच जातियों के उठाने का आन्दोलन।

इस बड़े प्रश्न के विषय में, अन्त में हिन्दुओं के विवेक की जागृति हुई है। यह प्रश्न उन प्रश्नों में से एक है जिनका उस समय से कोई ख्याल ही नहीं किया गया, जब से भारत ने भगवान् बुद्ध और उन की शिक्षा से लज्जित होना सीख लिया है। आजकल तो इस प्रश्न ने भयंकर रूप धारण कर लिया है। अब भारत ने उस अस्वाभविक और नाशकारक जातिविभेद के विरुद्ध खड्ग धारण किया है जो एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य से, या कम से कम एक हिन्दू को दूसरे हिन्दू से अलग रखता है। जो शक्ति इस संग्राम की तह में काम कर रही है वह सराहनीय अवश्य है। अब लक्ष्य ठीक है यद्यपि इस आन्दोलन का अभी बचपन ही है, तोभी इसने सच्चाई के साथ काम करने वाले नवयुवकों को अपनी ओर खींच लिया है।

अब कोई भी आदमी इस आन्दोलन को बुरा नहीं कह सकता। मैं संसार भरके मनुष्यों को एक दूसरे का भाई समझता हूँ। भगवद्गीता और मनुस्मृति में वर्णों का जिक्र है। चाहे चारो वेद वर्णों को ब्रह्म या हिरण्यगर्भ के पवित्र शरीर के सिर हाथ जाँघ और पैर बतलाते रहें पर मैं किसी भी जाति या वर्ण को नहीं मानता।

नीच जातियों के प्रश्न को मैं उन देशभक्त हिन्दुओं की दृष्टि से नहीं देखता, जो नीच जातियों को इसलिये उठाना चाहते हैं कि इस काम से हिन्दुओं की संख्या बढ़ जायगी या कौंसिलों के निर्वाचन में संख्या की इस वृद्धि के कारण वे मुसलमानों से बाजी मार ले जायगे। न मैं इस बात ही को जिससे साधारण हिन्दू व्यथित रहते हैं, कुछ महत्व का समझता हूँ कि ईसाई धर्म पीछे से हिन्दू-किले में सेंध लगा रहा है। मैं इस प्रश्न पर केवल एक सहृदय मनुष्य के नाते ही से सारी देश भक्ति, जाति-भक्ति या इसी प्रकार के अन्य खयालात से दूर रह कर विचार करता हूँ। नीच जाति का मनुष्य मनुष्य है, और इसलिए, मेरे विचार से वह मनुष्यों के सारे स्वत्वों के पाने और कर्तव्यों के पालन करने का योग्य पात्र है। इसी दृष्टि से मैं इस आन्दोलन को जो एक भटकी हुई भेड़ को झुंड में लौटा लाने का काम करता है, सराहनीय और अच्छा समझता हूँ।

इस विचित्र संसार में सारी चीजें वैसी ही नहीं होतीं, जैसी वे दीख पड़ती हैं। हजार तरह के आड़े सीधे भलाई बुराई के ताने बाने हमारे जीवन में मौजूद हैं और इसलिए चारों ओर देखने भालने की जरूरत है। जीवन के रहस्य सीधे सादे नहीं। उसकी भूल भुलैयों के कारण किसी सामाजिक काम के ऊपर मत स्थित करना बड़ा ही टेढ़ा काम है।

नीच जातियों के प्रश्न का दूसरा एक अंग भी है। सब से

पहले हमें यह पूछना है कि वे कौन लोग हैं, जो भारत की नीच जातियों को मनुष्यता के समान स्थल पर लाना चाहते हैं और जो उनके हजारों वर्ष से खोये हुए समानता के हक को फिर वापस दिलाना चाहते हैं। इसका उत्तर यह है कि हिन्दुस्तान के नवयुवकों ने इस काम को अपने हाथ में लिया है। हम पूछते हैं कि वह सामाजिक समानता किस प्रकार की है जो वे इन नीच जातियों को देना चाहते हैं ? उत्तर मिलता है कि वे उनको देश की अन्य जातियों—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—की बराबरी का हक देना चाहते हैं। यदि ऐसा ही है, तो अच्छा है। लेकिन, अब इस प्रश्न का हास्यास्पद अंग आगे आता है कि क्या ये नीच जातियों के उद्धार करने वाले लोग स्वयं भी मनुष्यता के समान स्थल पर खड़े हुए हैं ? क्या उनको वह मान प्राप्त है जो एक साधारण मनुष्य की शान के लिए जरूरी है ? वे कहते हैं कि समाज में नीचे गिने जाने के कारण शूद्र लोग अपनी आयु अंधकार और अज्ञान में व्यतीत करते हैं, मानवी स्वत्वों से वञ्चित रहते हैं और इस प्रकार उन्नति करने का अवसर नहीं पाते। परन्तु प्रश्न होता है कि क्या स्वयं इन लोगों की हालत कुछ अच्छी है और क्या इन्हें मानवी स्वत्व प्राप्त हैं ? ये ग्रेजुएट, ब्राह्मण, उच्च जाति वाले राजा और जमींदार कौन हैं जो नीच जातियों को मनुष्यता के भूतल पर बैठाना चाहते हैं ? क्या वे स्वयं भी मनुष्य हैं और क्या संसार का कोई सभ्य मनुष्य उन्हें भी मनुष्य कह सकता है ? वे तो स्वयं संसार की दृष्टि में शूद्र हैं और इस पर भी वे शूद्र जातियों को अपनी 'उच्च' सामाजिक स्थिति में लाना चाहते हैं। क्या वे भी सामाजिक उच्चता की डींग हांक सकते हैं ? सभ्य मनुष्यों की दृष्टि में सारे हिन्दू अति नीच हैं। चाहे वे राजा हों या रईस, पण्डित हों या भङ्गी, सारस्वत हों या

नामशूद्र, महामहोपाध्याय हों या चण्डाल, उनकी इस प्रकार की अवस्थायें उनमें से किसी को मनुष्यता के उच्च स्थान पर नहीं बिठा सकतीं। वे समाज की अति नीच श्रेणी हाटेन्टोज, जूलू, काफिर, मिश्रियों, ब्रह्मियों या अनामियों के साथ गिने जाते हैं, चाहे वे अपने को रेशम के कीड़े समझें, या घास या मोरी के, इस अन्तर से उनकी हैसियत ज़रा भी नहीं बढ़ती।

यह बात बड़ी ही हास्यास्पद तथा निराशाजनक है कि हिन्दू शिक्षित समाज जिसकी दशा स्वयं अच्छी नहीं, नीच जातियों को ऊपर उठाना चाहता है। यह तो अपने आपको धोखा देना या जान बूझ कर अन्धा बन जाना है। वे समझ बैठे हैं कि शूद्रों के लिए यह बड़ी बात होगी कि वे ब्राह्मणों के साथ भोजन कर सकें या उनसे मिल सकें परन्तु वे भूलते हैं। इससे कुछ लाभ नहीं, इससे तो इतना ही होगा कि एक शूद्र दूसरे शूद्र के बराबर हो जायगा, परन्तु जो बात इन शूद्रों और नीच जातियों को सभ्य जातियों से अलग करती है, वह उस नाली के मुक़ाबले में इतनी गहरी है कि उच्च और शिक्षित शूद्रों में नीच और गन्दे शूद्रों का मेल मिलाप हो जाने पर भी उस महान् कार्य में जिसकी मनुष्य जाति को जरूरत है—कोई भी सहायता न मिलेगी। रेशम का कीड़ा गर्व कर सकता है कि मैं चमकदार हूँ, मेरे नाम की हर कहीं चर्चा होती है, मेरे द्वारा बनाई हुई चीज़ से रेशम बनती है, जिसे राजा महाराजा पहिनते हैं, पर यथार्थ में, वह भी एक वैसा ही कीड़ा है जैसा टसर का यदि टसर का कीड़ा भी शहतूत के पेड़ों पर छोड़ दिया जाय और उसका भी मान वैसा ही होने लगे जैसा कि रेशम के कीड़े का, तो भी वे दोनों मनुष्य पद को प्राप्त नहीं कर सकते। पुनर्जन्म के आवागमन के सिद्धान्त पर विचार करते हुए कहना पड़ता है कि मनुष्य

का चोला पाने के लिये उन्हें नये सिर से जन्म लेना चाहिए। कीड़ों में वह चाहे जितने अच्छे समझे जाते हों पर उनका मान रेंगनेवाले जीवों से अधिक नहीं हो सकता। शिक्षित हिन्दू नीच हिन्दुओं के उठाने के लिए एक समुदाय बनाते हैं। इसी प्रकार यूरोप के कुत्ते भी एशिया के बाजारी कुत्तों को अपने बराबर इस योग्य बनाने के लिए कि वे भी लेडियों की गोदों में बैठने और पेरिस और लन्दन के धनकुबेरों के कमरों में चेहलकदमी करने का हक़ पा जायें, एक मण्डल बना सकते हैं। नीच जातियों को ऊपर उठाने वाले इन व्यक्तियों से मैं कहूँगा "वैद्यवर! अपनी ही दवा करो"

यह तो ऐसी ही बात हुई कि संसार के सारे लँगड़े मिलकर लगड़ों की मदद करें और अंधे अंधों की आंखें बनावें। भारत की नीच जातियों में भी बड़े भेद-विभेद हैं। प्रथम श्रेणी का चाण्डाल साधारण चाण्डाल से घृणा करता है। यदि ये चाण्डाल लोग अपने आपस में सामाजिक समानता क़ायम करने के लिए एक सभा का संगठन करें तो भारत के सुधारक लोग क्या कहेंगे कि सभा बुरी नहीं, कुछ न होने से कुछ अच्छा ही है। परन्तु इन चाण्डालों में चाहे समानता पैदा हो जाय, पर क्या इन्हें मन्दिरों में पैर रखने का, कुओं में पानी भरने का, पाठशालाओं में शिक्षा पाने का हक़ मिल जायगा? यदि प्रतिष्ठित हिन्दू को मनुष्यता के सामाजिक बाजार का रुपया मानलें, तो चाण्डाल फिर भी तांबे का खोटा पैसा ही रहेगा। और कोई सराफ़ उसे अच्छे पैसे के स्थान में लेने के लिए कदापि तैयार न होगा। अतएव शुद्धि सभाओं का बनाना नैतिक बल का व्यर्थ खर्च करना है। इस बल को असमानता के प्रश्न के हल करने में बड़े पैमाने में लगाना चाहिए था, जिससे इसके बजाय कि नीच श्रेणी के चाण्डाल प्रथम श्रेणी के चांडालों के बराबर हो जायें;

सारे चांडाल हिन्दुओं की बराबरी के हो जाते। यह बात ठीक है और मैं इन सुधारकों से कहता हूँ कि तुम वर्तमान समय के हिन्दुओं को, जिनकी बराबरी का तुम शूद्रों को बनाना चाहते हो, मनुष्य समाज रूपी बाजार के चलते हुए सिक्के समझने में बड़ी भारी भूल करते हो। प्रतिष्ठित हिन्दू एक घिसा हुआ 'सिक्का' है और आज संसार के बाजार में उसकी कोई पूछ नहीं। सामाजिक असमानता का प्रश्न इस प्रकार हल हो सकता है कि सारे हिन्दुओं को चाहे वे द्विज हों या चांडाल—संसार की सभ्य जातियों की बराबरी के दर्जे पर घसीटा जाय। इन शुद्धि सभाओं में शक्ति और रुपया खर्च करना व्यर्थ है। जब सारा भारत नीच जातियों से भरा हुआ है तब यह फिजूल है कि कुछ निम्न श्रेणी के नीचों के उठाने की ओर ध्यान दिया जाय।

## (२) शिक्षा

आज कल बहुत से विद्वान अपने-अपने शिक्षा सम्बन्धी प्रस्तावों को लेकर आगे बढ़े हैं। शिक्षा रूपी आकाश में मिसेज बिसेन्ट, श्री० मालवीय और मि० गोखले आज कल खूब चमक-दमक रहे हैं। साथ ही, फर्गुसन कालेज, दयानन्द एङ्गलो वैदिक कालेज, गुरुकुल आदि पुराने तारागण भी अपने नियत क्षेत्र के भीतर चक्कर मार रहे हैं। मालवीयजी ने जो हिन्दू विश्वविद्यालय का बड़ा भारी प्रस्ताव किया है, उसे सर्व-साधारण से कुछ सहायता मिली है। यह आरम्भ अच्छा है। लेकिन हमें विचार करना चाहिये कि क्या हमारे देश वालों को ऐसी संस्थाओं से लाभ हो सकता है? मालवीय जी का कहना है कि इस विश्व-विद्यालय से हिन्दुओं में ऐक्य-भाव बढ़ेगा और 'हिन्दू धर्म' की रक्षा होगी। इसमें 'धार्मिक शिक्षा' पर विशेष जोर दिया जायगा। प्रास्पेकटस में हर तरह की शिक्षा—वैज्ञानिक, औद्यो-

गिक, शिल्प सम्बन्धी आदि का जिक्र है। नई तजवीज को आगे बढ़ाने के लिए इन बातों का होना ठीक है। आओ, हम जाँचें कि हमारे युवक इन उपायों के अनुसार काम करते हुए उन्नति के शुभ पथ में कहां तक आगे बढ़ सकते हैं।

पहले तो यही प्रश्न होता है कि 'धार्मिक शिक्षा' है क्या ? मुझे आज तक मालूम न हो सका कि हिन्दुत्व किसे कहते हैं ? ईश्वरवादी लोग यह मानते हैं कि ईश्वर है, लेकिन हम यह न जान सके कि वह कैसा है ? बहुत से आदमी 'हिन्दुत्व' के विषय में ऐसा ही मत रखते हैं। हिन्दू विश्वविद्यालय के संचालकों का कहना है कि वही सिद्धांत सिखाये जायंगे, जिन्हें हिन्दुओं के सब पंथ मानते होंगे। मेरा विश्वास है कि जब इन रत्नों के लिए हिन्दू शास्त्रों का समुद्र मथा जायगा, तब उस में से इन सिद्धान्तों के रूप में कुछ निरी मामूली प्रचलित स्वयं-सिद्ध बातें निकल आवेंगी। लेकिन क्या हमें विश्वविद्यालय में सत्य की शिक्षा देनी चाहिए या कुछ थोड़े से ऐसे विचारों की, जिन्हें सब हिन्दू मानते हैं ? यदि हमें धर्म की शिक्षा देना है, तो इसकी अपेक्षा कि हम २५ करोड़ हिन्दुओं का, जिनमें बहुदेव-वादी, अद्वैतवादी, आस्तिक, नास्तिक आदि की कमी नहीं है और जिनके मतों का यदि विभाजन किया जाय, तो मतों का एक अजायब-घर ही क़ायम होजाय—पूर्णतया मानी हुई बातों पर जोर दें, हमें सत्य की शिक्षा पर अधिक जोर देना चाहिए। फिर क्या भारत के भावी नेता सदा पुराने हिन्दू ख्यालात ही का पाठ किया करेंगे ? क्या वे ख़ुद कुछ सोचने का साहस न करेंगे ? क्या सारी धार्मिक सच्चाइयां और आदर्श हिन्दुओं के उपनिषद् आदि धर्म्म ग्रन्थों ही में बन्द हैं ? धार्म्मिक-शिक्षा की यह लटपटी वाणी ऐसे आदमियों के मुंह से सुन कर बड़ा ही दुःख मालूम होता

है, जिनकी नज़रों में धर्म आत्म-संरक्षण का पवित्र प्रकाश नहीं है, किन्तु जो धर्म को एक गिरी हुई निर्जीव जाति में जातीय एकता के नाम से पुकारी जाने वाली एकता या जत्थों के झगड़ों के मिटाने का उपाय समझते हों। हम बहुत से आदमियों को जानते हैं जो हम से चारों वेद के सामने सिर झुकाने को कहते हैं क्योंकि सारे हिन्दू ऐसा ही करते हैं। वे ऐसा करना बिना किसी शंका के हिन्दुत्व का एक सर्व-स्वीकृत सिद्धांत मानते हैं। मैं सत्य और उन्नति के नाम पर इस धार्मिक भद्देपन का विरोध करता हूँ। हम नहीं चाहते कि हमारे बच्चों को हिन्दुत्व के भण्डार की यह फफूंदी लगी हुई रोटी का टुकड़ा खिलाया जाय, जो हिन्दुओं के ये नये जोशीले भंडारी उनके सामने रख रहे हैं। चाहे इन मानसिक बेडियों के सिवा, जो एकता के चिन्ह सदृश धारण की जानी चाहिए, कोई और दूसरा उपाय ऐसा न भी हो जो हिन्दुओं को एकता के सूत्र में बांध सके, तो भी हम नहीं चाहते कि हमारे युवक और युवतियाँ कृत्रिमता और आध्यात्मिक आलस्य में पाले पोसे जांय। इस कीमत पर एकता खरीदने के योग्य वस्तु नहीं है। क्या इस तरह की 'धार्मिक शिक्षा' प्रति दिन हजारों पुरोहितों और फक़ीरों द्वारा नहीं दी जाती? अभी भारत में इस तरह की शिक्षा की कमी नहीं है। यह आश्चर्य की बात है कि भारत का हरएक हितेच्छु इसके बजाय कि वह सारे संसार की एकत्रित सम्पत्ति में हाथ डाले, संस्कृत के दिवालिये खजाने ही की छानबीन में लग जाता है। वैदिक सूत्रों पर झगड़ कर और शाम सबेरे मंत्रों का उच्चारण करके भारत का उद्धार करना लोगों ने बड़ा ही सहज समझ रक्खा है। लेकिन सामाजिक समता और आत्म-गौरव, वैज्ञानिक खोज और तर्क-सिद्ध मत, परिमित व्ययी स्वाधीनता और संघ, सार्व-जनिक भाव और सामाजिक उन्नति के भावों का पैदा

करना बड़ा कठिन है। 'धार्मिक शिक्षा' के नाम पर इन युवकों को सिखलाया क्या जायगा? मैं समझता हूँ कि उन्हें वेदों का सम्मान करना सिखलाया जायगा, जिन्हें वे चाहे पढ़ भी न सकें। उन्हें यह सनातन अंतर याद कराया जायगा कि श्रुति दैवी हैं और स्मृति मनुष्य कृत, उन्हें चार वर्ण समाज के चार खम्भे बताये जायेंगे, और देवताओं और देवियों की उपासना सिखाई जायेगी, इत्यादि। मैं उन्नतिशील भारत से सच्चाई के साथ पूछता हूँ कि क्या यह धार्मिक शिक्षा का भाड़े पर लिया हुआ शिक्षाक्रम अब फटे हुए चिथड़े की तरह नहीं होगया है? हम चाहते हैं कि भारत के भावी निर्माता आधुनिक आचार्यों के ग्रंथों का अध्ययन करें, वे संसार भर के परम बुद्धिमान लोगों से ज्ञान सीखें वे धर्म की ओर तर्क-सिद्ध मत और व्यक्तित्व के आधुनिक ढँग से बढ़ें, और इस तरह अपने लिए दृढ और मौलिक मत स्थिर करें। उनके मनों में अवैज्ञानिक और काल्पनिक बासी विचारों के ठूसने से फ़ायदा ही क्या? सत्य के स्थान में उन्हें झूठ और सच की खिचड़ी, बेतुकी और गड़बड़ बातों से भरे हुए शास्त्रों की उस शिक्षा से-जिससे वे अपने देश वालों के भाग्यों का निर्माण करेंगे, भलाई ही क्या? क्या ऐसे मल्लाह अपनी नाव को कभी पार लगा सकेंगे?

फिर इन के समाज के विषय में क्या विचार होंगे? क्या वे मनु की स्मृति को सब कुछ समझ बैठेंगे और ऐसे समय में उसी की सहायता से हिन्दुत्व की रक्षा करेंगे? यह कितने दुःख की बात है कि जब सारा संसार तो आधुनिक आचार्यों के बुद्धि बल से उत्पन्न ताजे और पोषक भोजन को पा रहा हो, उसी समय हमारे भूले भटके हिन्दू युवक अपने नेताओं के कारण ब्राह्मण, गृह्य-सूत्र, मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति ऐसे ग्रन्थों में अच्छे और पोषक पदार्थ ढूंढते हुए नज़र आवें। ये लोग

विक्रम की इस बीसवीं शताब्दी में विक्रम से तीस शताब्दी पहिले के बचे खुचे माल पर जीवन टेर करना चाहते हैं। संस्कृत का कोई भी ग्रन्थ हमारे युवको को नहीं बता सकता है कि आज समाज का संगठन किस तरह होना चाहिए ? यदि सच्चे सामाजिक सिद्धान्त प्राचीन ग्रन्थों से सीखे जा सकते हैं, तो फिर काशी के पण्डितों ही को सब से बुद्धिमान समझो और फिर वे ही नवीन भारत के नेता हो सकते हैं। लेकिन कौन ऐसा मूर्ख होगा जो भारत के भविष्य को काशी और नदिया के पण्डितों के हाथों में सौंप देगा। हमें सदा पीछे देखने के बजाय आगे देखना चाहिये। नये अवसर नये कर्तव्यों की शिक्षा देते हैं। समय के परिवर्तन से प्राचीन बातें; फुजूल हो जाती हैं। जो सत्य के साथ सदा रहना चाहते हैं उन्हें सदा बढ़ते रहना चाहिए। फिर धर्म की शिक्षा ही सब कुछ नहीं है। सामाजिक आदर्श भी होना चाहिए। एक आदमी ब्रह्म और पुनर्जन्म पर विश्वास कर ले. लेकिन उसे राष्ट्रीय प्रश्नों, आर्थिक व्यवस्था। विवाह, स्त्रियों का पद, जातीयता, समाज के मुक़ाबिले में व्यक्ति के हक़ आदि बातों के विषय में भी ज्ञान होना ज़रूरी है।

आज कल एक आदमी के लिए केवल आस्तिक या अद्वैतवादी, वेदान्ती या सांख्य-शास्त्र का मानने वाला होना ही काफ़ी नहीं है। उसे राष्ट्र के विषय में भी कुछ मत स्थिर करना होगा कि वह परिमित राज-सत्ता चाहता है या स्वेच्छाचारी राज-सत्ता, उसे प्रजा-सत्तात्मक राष्ट्र पसन्द है या धार्मिक लोगों द्वारा संचालित राष्ट्र, इत्यादि। फिर उसे स्त्री, तथा उसके सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, और पारस्परिक स्वत्वों और कर्तव्यों और साथ ही संसार की आर्थिक व्यवस्था पर अपना मत स्थिर करना होगा। आधुनिक सभ्यता में बड़ी गुत्थियां हैं। आज बहुत से प्रश्न ऐसे उपस्थित हैं जिनका भूतकाल के हिन्दू

शास्त्रकारों ने स्वप्न में भी ख्याल नहीं किया था। अब प्रश्न होता है कि इन प्रश्नों पर हिन्दू विश्वविद्यालय क्या शिक्षा देगा? क्या हिन्दू शास्त्रों के अनुसार मनु की बताई हुई आठ मंत्रियों की राज सभा का चर्खा सदा ही चल सकता है? क्या हमारे युवक यह सीखेंगे कि स्त्री को कभी स्वतन्त्रता न मिले? (नभजेत स्त्री स्वतन्त्रता—मनु)। क्या वे आधुनिक प्रतिनिधि सत्तात्मक राष्ट्र से इसलिए आंखें मूंद लेंगे कि हिन्दू काल में तो वह था ही नहीं? शिक्षा से मनुष्य अपने जीवन के कर्तव्यों के पालन करने में समर्थ होता है। वह युवक किसी काम का नहीं जिसने अपने धार्मिक और राजनैतिक मत स्थिर नहीं किये। शिक्षा बड़े प्रश्नों पर दृढ़ मत स्थिर करने के योग्य बना सकती है। इसे क्या मालवीयजी के कार्य-क्रम से ऐसा होने की आशा है?

इस विश्वविद्यालय में किस तरह की राजनीति की शिक्षा दी जायगी? भारत में कितने ही राजनैतिक दल हैं। भारतीय युवक को इन दलों में से किसी एक में होना चाहिए। यह विश्वविद्यालय किस दल की राजनीति सिखावेगा? यदि वह राजनीति से तटस्थ रहा तो उसका होना न होना बराबर है। मालवीयजी बतावें कि विश्वविद्यालय का किस दल से सम्बन्ध होगा? इस समय जातीय हिन्दू विश्वविद्यालय बन ही नहीं सकता। राजनैतिक प्रश्न ऐसे होते हैं कि उनके कारण पिता और पुत्र को एक दूसरे के मुकाबिले में आ जाना पड़ता है। इसलिए इसे कुल हिन्दुओं का विश्वविद्यालय कहना फ़जूल है। यह जाति के एक भाग का कहा जा सकता है, क्योंकि कुल जाति तो राजनैतिक और न धार्मिक प्रश्नों ही पर एक मत है। क्या यह विश्वविद्यालय लन्दन के 'टाइम्स' की तरह कपट, ज़िद, कट्टरपन और राजनैतिक सङ्कीर्णता सिखाने के लिये स्थापित

होगा ? या यह उन्नति और ज्ञान का प्रचार करेगा ? सत्य ही सच्चा प्रकाश है। हमें पहिले सत्य चाहिए, पीछे एकता। असत्य बन्धन और मृत्यु की अवस्था में एकता हो सकता है, लेकिन ऐसी एकता की हमें जरूरत नहीं। सत्य से पहिले झगड़े फसाद हो सकते हैं लेकिन सच्ची एकता सत्य ही के आधार पर टिक सकती है। धर्म हो या समाज, सब में सत्य की जरूरत है और फिर एकता तो आप से आप आजायगी। जो सत्य को प्यार करते हैं, वे हमारे साथ हैं। जो उससे घृणा करते हैं, वे हमारे विरोधी हैं, चाहे फिर वे हमारे माता, पिता या सम्बन्धी ही क्यों न हों। संसार हिन्दू और मुसलमान, हिन्दुस्तानी और अँग्रेजी, पूर्वीय और पश्चिमीय दलों में नहीं बटा है वह केवल दो ही दलों में बटा है। एक है सत्य का प्रेमी और दूसरा है उसका विरोधी। इसके पहिले कि भारत फले फूले, उसे सत्य के आरे पर चिर जाना चाहिए। 'हिन्दू' 'मुसलमान', 'गोरे' और 'काले' की पुकारें अर्थहीन हैं। 'हिन्दू विश्वविद्यालय' के नाम से कुछ भी पता नहीं चलता कि वह किस तरह का विश्वविद्यालय होगा। उसे साफ-साफ प्रकट कर देना चाहिए कि उसके धार्मिक और सामाजिक सिद्धान्त क्या होंगे, जिससे पता चल सके कि वह किस तरह के आदमी पैदा करेगा।

मैंने इन प्रश्नों को अपने युवकों और युवतियों को गुमराह होने से बचाने के लिये आगे रक्खा है। मैं अभी धर्म और समाज पर कोई मत प्रकट नहीं करना चाहता। इस लेख से मेरा मतलब अपने विचारों का प्रचार करने का नहीं, किन्तु एक महत्वपूर्ण प्रश्न को भारत की उठती हुई सन्तानों के सामने रखने का है। 'हिन्दू' 'जातीयता' 'एकता' और 'उन्नति' शब्दों के बहाव में हमें बह न जाना चाहिए। हमें सत्य की खोज करना चाहिये और उसी को सब बातों की कसौटी मानना चाहिए।

'हिन्दुत्व' या 'उन्नति' के नाम पर चलाये हुए किसी काम में हमें अपनी शक्तियां उस समय तक न खर्च करनी चाहिये जब तक हम यह न जानलें कि हां, इस काम की देश को और से ज्यादा जरूरत है। रात के चौकीदार की तरह मैं सब युवकों से कहता हूँ "जागते रहना, रात अंधियारी है। रास्ते में बड़े विघ्न और बाधायें हैं। अविश्वास, भ्रम और उदासीनता के बादल सत्य-चन्द्र को हम रे अश्रु-पूर्ण नेत्रों से छिपाये हुए हैं। भारत के युवको और युवतियो ! तुम्हारे चारो ओर अन्धकार है। इस में तुम्हारे गुमराह हो जाने का बड़ा डर है। इस अन्धकारमय निशा में सत्य तुम्हारा प्रकाश चिह्न हो ! सत्य के प्रकाश से तुम कभी सुपथ से नहीं भटक सकते ।

'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागृति संयमी ।'

—o—

# भारतवर्ष और संसार के आन्दोलन ।

बीसवीं शताब्दी में संसार भर के सभ्य देशों का रूप पलट जायगा । भारत संसार से बाहर नहीं । सदियों तक संसार से अलग रहने की वजह ही से भारत को इतना नीचे गिरना पड़ा । अलग रहकर उन्नति हो ही नहीं सकती । उन्नति के लिए अखाड़े ही में कूदना पड़ता है । संसार के साथ चलने के लिए जिन बातों की जरूरत है, अभी उनका भारतवर्ष में कहीं पता ही नहीं । जरूरत है कि हम अपनी मानसिक दृष्टि को बढ़ावें और यूरोप के आन्दोलनों से सम्बन्ध रखें । इसके लिए हमें ये बातें करनी चाहिये:—

( १ ) हमारे नौजवान विदेशी भाषा सीखें । अंग्रेजी एक अच्छी भाषा है, लेकिन संसार भर की वही एक भाषा नहीं है । फ्रेंच जर्मन, स्पेनिश और इटालियन भाषाओं के सीखने की

भी जरूरत है। यूरोप के लगभग सभी देश फ्रेंच भाषा बोलते हैं। उस में नये नये आविष्कारों की पुस्तकें भी अच्छी अच्छी हैं। दुःख की बात है कि भारतीय युवक को यूरोप की यात्रा करने में फ्रेंच भाषा न जानने की वजह से गूंगे और बहरे की तरह रास्ता काटना पड़ता है। जर्मन साहित्य पुस्तकों से भरा पड़ा है। विज्ञान की उन पुस्तकों में से बहुत सी जो इङ्गलैंड में पढ़ाई जाती हैं, जर्मन भाषा से अनुवादित होती हैं। लन्डन का रास्ता जान या नाप कर ही हमारे 'नेता' इस बीसवीं शताब्दी में शिक्षक बन बैठते हैं। वे अपने को राजनीति-धुरन्धर समझते हैं, परन्तु उन्हें इस बात का कुछ पता ही नहीं कि आज कल के यूरोप में कौन कौन से बड़े आन्दोलनों की धूम है? स्पेनिश भाषा का जानना भी उनके लिए जरूरी है जो दक्षिण अमेरिका के राज्यों का हाल जानना चाहते हैं। आक्सफोर्ड, केम्ब्रिज और हार्वर्ड के विश्वविद्यालयों की बासी तिबासी शिक्षा से काम न चलेगा। वर्तमान भारत यूरोपीय जीवन के स्रोत जेनिवा, पेरिस, रोम और बर्लिन में गोता लगाये बिना तेजी से आगे बढ़ ही नहीं सकता है। हमें अपने युवकों को इङ्गलैंड भेजकर रुपया खराब न करना चाहिए। हमारे बेसमझ ग्रेजुएट लोग ही उस देश को उन्नति की साक्षात् मूर्ति समझते हैं। यथार्थ में वह एक बड़ा ही पिछड़ा हुआ देश है। गुरुकुल, बंगाल का नेशनल कालेज आदि जातीय संस्थाओं को यूरोप की अन्य भाषाओं की शिक्षा का काम अपने हाथों में लेना चाहिए। उत्तरीय भारत के विद्यार्थी को चाहिए कि अब वह फ़ारसी को दूर से नमस्कार करले। फ़ारसी से भारत को लाभ ही क्या? उसका स्थान अब फ्रेंच, जर्मन और इटेलियन भाषाओं को मिलना चाहिए। हां हिन्दुस्तानी हमारी भाषा है और उसे हमें अवश्य पढ़ना चाहिये। कितने ही भारतवासी विदेशों में संस्कृत की

विशेष योग्यता बढ़ाने जाते हैं। भारत में अच्छे-अच्छे संस्कृतज्ञों की कमी ही क्या है ? हमें अपने इन युवकों को यूरोप की भाषायें सीखने और इस तरह उन्हें यूरोप और भारत में सम्बन्ध पैदा करने के लिए तैयार करना चाहिए।

(२) भारतीय युवक इस समय इङ्गलैंड और अमेरिका के विश्वविद्यालयों में पढ़ने जाते हैं। उन्हें फ्रांस और स्विटजरलैंड के विश्वविद्यालयों में पढ़ने जाना चाहिए। मिश्री, तुर्की, चीनी और जापानी विद्यार्थी इन्हीं देशों के विश्वविद्यालयों में पढ़ने जाते हैं।

(३) ऊँची जातियों को पुरानी लीक पीटना छोड़ना चाहिए। हमारे रीति रिवाज, जिन पर बहुत से कम-अक्ल जाति हितैषी इसलिए गर्व करते हैं कि वे जातीय 'चिन्ह हैं, यूरोप और भारत के बीच में रोड़े सिद्ध हो रहे हैं। हरिद्वार और पुरी की यात्राओं की जरूरत नहीं। हमें यूरोप के यात्री बनना चाहिए। पारसी लोग ऐसा कर चले हैं। लेकिन और लोग इसे उस समय तक न कर सकेंगे जब तक वे अपना पुराना रास्ता न छोड़ेंगे। कुछ लोग ख्याल करते हैं कि भारत के भूत और भविष्य का गठ-बन्धन 'धोती' 'दाल और 'मैले आंगन' ही से हो गया है। हमारे कुछ देशवासी सोच बैठे हैं कि संसार भर में भारत ही एक ऐसा देश है, जिसमें धर्म रहा रह गया है। उन्हें हर चीज की प्राचीनता पर गर्व है। ये बातें उन्हीं के लिए रहने दो, जो 'गुणज्ञ' कहलाते हैं। उनके मुंह से जिन्हें लाखों आदमियों के संहार करने वाले महासंग्राम में समय की टेढ़ी चाल का मुकाबला करना पड़ता है ये बातें जरा भी शोभा नहीं देतीं। हां, अगर लोग अपने को भारतीय जनाना चहार-दीवारी के भीतर बन्द कर लें, तो भले ही उन्हें इस बदलने वाले जमाने की सख्तियों की आंच न मालूम पड़े और वे अपने दिमागों के बल से गङ्गोत्तरी

या हिमालय के पास बैठे हवाई महल बनाते रहें। सड़े गले ख्यालात के मुताबिक चलने के बजाय हमें अब संसार की सभ्यता की सब से नई पोशाक में देखना चाहिए। जापान ने ऐसा ही किया। उसने गड़े हुए मुर्दे कब्र से नहीं उखाड़े। भारत के सच्चे काम करने वालों से मैं कहता हूँ, "आगे देखो और बाहर देखो, पीछे और भीतर मत देखो।" अमीरों के लड़के और लड़कियों को विशेष शिक्षा के लिए यूरोप जाना चाहिए। यह गलत है कि फ्रांस और स्विटजलैंड में पढ़ने से अधिक खर्च पड़ता है। भारत के सरकारी कालेजों में जितना खर्च पड़ता है, इन देशों में उतने से अधिक न पड़ेगा। हजारों गरीब रूसी विद्यार्थी इन देशों में पढ़ते हैं।

हमारे नेताओं को हमारे समाज के जीवन को यूरोपीय समाज के आदर्शों पर मोड़ना चाहिये। चरित्र का सुधार मशीन से नहीं हो सकता। हमारे देश के बड़े आदमी सचमुच बड़े उस समय तक नहीं हो सकते जब तक वे अपने चरित्र का सुधार नहीं करते। संतोष की बात है कि काम हो रहा है। पुराना ढंग बदल रहा है और नई बातों को स्थान मिल रहा है।

( ४ ) भारत की उन्नति के लिए सामाजिक आदर्शों और आंदोलनों के विषय का अध्ययन बड़ा ही जरूरी है। हमारे देश वाले अध्यात्म विद्या के अच्छे जानकार हैं। पर उन्हें समाज-शास्त्र का कुछ भी ज्ञान नहीं। यूरोप में आज जितने ख्यालात जोरों पर हैं, उन सबका सम्बन्ध समाज-शास्त्र से है। मतमतान्तरों के झगड़ों के दिन गये। अब तो समाज, शासन, स्त्रियों आदि के सम्बन्ध के प्रश्नों के मनन करने का जमाना है। भारत वैसा ही लकीर का फकीर बना है। उसका यह ढङ्ग उस समय तक न बदलेगा जब तक उसके युवकों और युवतियों को

पेरिस और जेनिवा की जीवन संचारिणी वायु न लगेगी। यूरोपीय विचारों की शिक्षा ही उसकी सुस्ती, बे-अकली, उदासीनता और कमज़ोरी को दूर करेगी। भारत में बड़े बड़े विचारों वाले आदमी कैसे उपज सकते हैं, जब हमारे अच्छे से अच्छे आदमी पुरानी पुस्तकों के कुचले हुए मुर्दा जमाने ही के स्वप्न देखा करते हैं। जीवन जीवित ही से प्राप्त हो सकता है, मुर्दे से मौत मिल सकती है। यूरोप जीवित है भारत अधमरा। यूरोप से अमृत लेकर हमें भारत को ज़िन्दा करना चाहिए। भारतीय कालेजों में समाज शास्त्र की पढ़ाई होना चाहिए। रूस इसी पढ़ाई से आगे बढ़ रहा है धार्मिक पक्षपात और अंधकार के जंगल से ज्ञान और स्वाधीनता के पाने का कोई रास्ता नहीं। भारत समाजोन्नति के नये कानूनों की रचना नहीं कर सकता। उसे सामाजिक आन्दोलनों की सार्वभौमिक शक्तियों को समझना चाहिए। कालचक्र भारत के सिर पर खड़ा हुआ कह रहा है, "मेरे कहे अनुसार चल, नहीं तो मैं तुझे पीस डालूंगा।" नवीन भारत को उत्तर देना चाहिए, "काल-चक्र! मैं तुझे अच्छी तरह समझता हूँ। मैं केवल तेरे कहे अनुसार ही न चलूंगा, बल्कि मैं इस तरह चलूंगा कि तुझे मेरी उंगलियों के इशारे पर नाचना पड़े।"

# महापुरुष

महापुरुषों के वाक्य जाति की चिरस्थाई सम्पत्ति हैं। उनके चरित्र जाति के युवकों के सामने उचित मार्ग पर चलने के लिए उच्च आदर्श पेश करते हैं। उनके विचारों को जीवित रखना जाति का परम कर्त्तव्य है।

संसार में दो प्रकार के महापुरुष होते हैं। एक वे, जो किसी विचार की धुन में चल पड़ते हैं और उसके प्रचार में मस्त होकर सारे संसार को भूल जाते हैं। वे जानबूझ कर अपने जीवन को संकीर्ण और अपूर्ण बना लेते हैं। उच्च आदर्श के अनुसार उनका जीवन प्रशंसा के योग्य नहीं होता, क्योंकि वे अपनी शारीरिक मानसिक और नैतिक शक्तियों को पूर्ण रूप से बढ़ने नहीं देते। वे अपनी मानसिक उन्नति को तुच्छ समझते हैं। शरीर की ओर से तो बिलकुल उदासीन हो जाते हैं। सभा और समाज के नियम, सभ्यता पूर्वक बात चीत करने के ढंग, सांसारिक व्यवहार का अनुभव आदि बातें उनके लिए कोई आदरणीय वस्तु नहीं है। नंगधड़ंग, पागल, उजड्ड तथा असभ्य बन कर और संसार से अलग रहकर लोगों के पथ-प्रदर्शक बनते हैं सदा उन्हें एक ही विचार की लौ लगी रहती है, जिसे वे हर समय हर मनुष्य तक पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं। जीवन के दूसरे अंगों के विषय में पूछो तो उन्हें तनिक भी उनका पता नहीं। वे अपनी सम्पूर्ण शक्तियाँ जाति को एक ही मार्ग दिखलाने में खर्च कर देते हैं। जाति बड़ी बन जाती है परन्तु वे स्वयम् छोटे रह जाते है। वे जाति के लिए दीपक बन जाते हैं परन्तु स्वयम् मनुष्य नहीं रहते, कुछ और ही हो जाते हैं। कोई उन्हें पागल कहता है और कोई साधू। आधा संसार उन पर

हँसता है और आधा उनकी पदरज को पवित्र समझ कर सिर पर चढ़ाता है।

यह तो उन महापुरुषों का हाल है जो अपना सारा जीवन किसी एक सच्चाई के प्रचार में बिता देते हैं। वे उस ताड़ के वृक्ष की तरह होते हैं जो सीधा जाता है। न उसमें छाया होती है और न फूल। वह केवल आकाश से बातें करता है। उसकी चोटी को देखकर मनुष्य मूर्छित हो गिर पड़ता है। इस प्रकार के महापुरुष सदैव संसार, से अलग, नैतिक धुन में लगे रहते हैं। उनसे मिल कर साधारण मनुष्य शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं, परन्तु लाभ नहीं उठा सकते। उनको सभा, समाज, उत्सव, विवाह, मेला, त्योहार इत्यादि का शौक नहीं होता। वे सबके कृपालु और सहायक बन सकते हैं परन्तु किसी के मित्र या लंगोटिये यार नहीं। वे दस आदमियों में बैठ कर बातें भी नहीं कर सकते क्योंकि जहाँ जरा किसी बात ने उनके विचारों को एक निश्चित मार्ग से हटाया और उनका मन विचलित हुआ।

दूसरे प्रकार के महापुरुष ताड़ के वृक्ष के अनुसार नहीं, वरन् बरगद के वृक्ष के सदृश होते हैं, जिसकी शाखाओं में पक्षी बसेरा करते और जिसकी छाया से पथिक सुख उठाते हैं। जिसकी ओर देख कर दृष्टि आकाश तक नहीं पहुँचती वरन् पत्तों ही में रह जाती है। सूरज की चमक से चौंधियाई हुई आँखों को हरियाली से शीतलता प्राप्त होती है। ऐसे महापुरुष संसार में रहकर और लोगों के सुख और दुःख, आनन्द और शोक में शामिल होकर घरबार के कर्तव्यों को पूरा करते हुए संसार के सामने व्यवहारिक धर्म का नमूना रखते हैं। वे अपने प्राकृतिक भावों को नहीं मारते वे प्रेम के रक्त को नहीं बहाते फिरते। वे मानुषिक विशेषताओं और गुणों को नमस्कार करके विचार

की मूर्ति बनने की कोशिश नहीं करते। परन्तु दूसरे भाइयों की तरह जीवन-मार्ग में प्रवेश करके इस प्रकार रहते हैं जैसे पानी में कमल। काम वैसे ही करते हैं, जैसे उनके पड़ोसी, परन्तु उद्देश्य का फ़र्क होता है। स्वार्थपरता नहीं वरन् परोपकार और कर्तव्य-परायणता उनके जीवन का लक्ष्य होता है।

महापुरुषों के जीवन का लोगों के मन पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है उन्हीं के जीवन को आदर्श मान कर लोग के दूसरों के क्लेश और दुःखों को मिटाने और अपनी जिन्दगी के सुधार करने का प्रयत्न करते हैं।

हर महापुरुष के मन में एक बड़ा विचार होता है, जिस को वह व्यावहारिक रूप से संसार के सामने लाने का प्रयत्न करता रहता है। वही उसका धर्म होता है। वही उस के जीवन के चरित्र का प्राण होता है। वही उसके जीवन के चक्र का केन्द्र होता है। वही उसके कामों के मोतियों की माला की लड़ी हो जाती है। उससे बहुत से प्रश्नों का उत्तर मिलता है। उससे उस मनुष्य के कामों का भेद मालूम होता है। जिस प्रकार एक बड़े कारखाने में लोग सारी कलों को देखते हैं परन्तु एञ्जिन, जिसके बल से सारा काम चलता है, नहीं देखते उसी प्रकार जब तक हम किसी महापुरुष के मन तक पहुँचकर उसके बड़े विचार को न समझें तब तक हम उसके जीवन से ठीक शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकते। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह महापुरुष प्रत्येक समय और प्रत्येक काम में भाग लेने के पहिले इस विचार को प्रत्येक मनुष्य के सामने प्रकट करता रहे। कोई भी महापुरुष ओछे आदमियों की तरह सदैव अपने मन की बातें दूसरों के सन्मुख नहीं कहता रहता। अपनी तबियत के सम्पूर्ण अंगों को प्रत्येक भले बुरे मनुष्य को नहीं दिखाता रहता। वह अपने दुःखी मन के भावों को हर समय मित्र और

शत्रु के सामने नहीं खोलता रहता, ताकि असावधान मित्र उस पर ठट्ठे का नमक छिड़कें और सावधान शत्रु उसे और घायल करें। जो मनुष्य गंभीर और बुद्धिमान होते हैं वे नीच और अदूरदर्शी मनुष्यों की भांति अपने विश्वासों को पल-पल में बखान नहीं करते, परन्तु उन्हें व्यवहार में लाकर दूसरों को दिखा देते हैं कि तुम भी ऐसा करो।

महापुरुषों का जीवन हम लोगों के लिए उन्नति का मार्ग दिखलाने वाला होता है परन्तु वह हमारी बाढ़ रोकने वाला घेरा; जिसके पार जाना पाप कहा जाता है नहीं बन सकता। कोई महापुरुष नहीं चाहता कि उसके वाक्य और कार्य जातीय जीवन के लिए शृंखला बन जायें, जो युवा पुरुषों को आगे पैर रखने से रोकें। हम अपने महापुरुषों को अपना सहायक नहीं, बल्कि शत्रु बना देंगे, यदि हम सपूत होने के बदले कपूत होने ही को आज्ञापालन का लक्षण समझेंगे। जाति की उन्नति हर समय होती रहेगी। कौन है जो उसको रोक सके? कौन है जो अपने कामों को जातीय प्रवाह की धार रोकने के लिए बांध बनाना चाहता है? कौन है जो स्वयम् इस बात को न माने कि उसने भी समय के साथ नये विचार प्राप्त किये हैं? यदि कोई मनुष्य ऐसा है जो पत्थर के खम्भे की तरह एक ही स्थान पर खड़ा रहा हो और जातीय झुण्ड दूर निकल गया हो तो वह महापुरुष नहीं, वह कुम्भकरण है। वह "दकियानूसी" समय का एक नमूना है। अजायबघर में रक्खे जाने के योग्य है। जातीय समाज में आने के योग्य नहीं।

# भारतीय किसान

भारतवासियों में किसान लोग मुझे सर्वप्रिय हैं। मेरे निकट महात्मा भी इन से अधिक पूजनीय नहीं, क्योंकि महात्माओं का उदर-पोषण तो किसानों ही के द्वारा होता है, इसी लिये जो अन्नदाता है वही समाज में सर्वथा शिरोमणि तथा शिरमौर है। किसानों के उपरान्त दस्तकार लोगों को समाज में दूसरा आसन मिलने का अधिकार है, जैसे जुलाहे, चमार, कारखानों में काम करने वाले, लोहार, बढ़ई, राज, मजदूर इत्यादि। इन लोगों की कार्य-चातुरता देख मेरा हृदय प्रेम से गद् गद् होजाता है। इन से उतर कर समाज में तीसरे पद के भागी हमारे यहां की नीच जातियां, अर्थात् शूद्र कहलाने वाले लोग हैं, जैसे कि मेहतर, कहार, डोलीवाले रसोइये, सईस, इत्यादि। देखिये ये सब लोग समाज की तह में पड़े हुए नाना प्रकार के दुःख सहन कर रहे हैं। विचार करने की बात है कि इन पुरुष रत्नों की सृष्टि पर कैसा घोर अंधकार छाया हुआ है, उन पर कैसी मृत्युमय शान्ति फैली हुई है। क्या किसान क्या दस्तकार, क्या नौकर, क्या चाकर, सब के सब पशु की तरह अपना अमूल्य जीवन व्यतीत कर रहे हैं। क्या आपका हृदय उनकी शोचनीय अवस्था पर शोकातुर नहीं होता ? हे परम पिता जगदीश ? इन मूकजनों को भी क्या कोई पुरुष सिंह वाणी प्रदान करेगा ? क्या कवि-कुल-भूषण इनका गुण गान कर देश में, नहीं नहीं, सारे संसार में इनके सन्मान को बढ़ायेगा ? इनके लिये भी क्या कोई महात्मा तुलसीदास या वेद व्यास रामायण तथा महाभारत की रचना करेंगे ? यथार्थ बात तो यह है कि भारतवर्ष में सच्चे कवियों ने अभी जन्म धारण नहीं किया। आदि से अन्त पर्यन्त हमारे

कविगण राजों महाराजों ही के गुण गान की ध्वनि अलापते चले आये हैं। उन्होंने इस रहस्य का पता तक न जाना कि जिन लोगों से समाज तथा देश का मान बढ़ता है, वे टूटे-फूटे झोपड़ों के रहने वाले हमारे पूज्यपाद किसान लोग ही हैं। राजभवन के रहने वालों से किसी भी देश और समाज की वास्तविक शाभा न तो हुई है और न कभी आगे होने वाली है।

शायद आप प्रश्न करेंगे कि इस अनोखे कथन से मेरा मतलब क्या है ? धनवान और प्रतिष्ठित कहलाने वालों, और बड़े बड़े पदाधिकारियों का तिरस्कार और इन असभ्य, दीन, दुःखी जनों से प्रेम करने में मेरा मंशा क्या है ? उत्तर में मेरा निवेदन है कि भारतवर्ष को मैं इन्हीं तुच्छ मनुष्यों के दम से गुलजार मानता हूँ। मेरा यह अटल विश्वास है कि इन्हीं लोगों की बदौलत हम राष्ट्र कहलाने के अधिकारी होते हैं। हमारा सर्वस्व इन्हीं लोगों पर निर्भर है। भारतवर्ष में राजे महाराजे, योगी, यती, सेठ, साहूकार, वकील, वैद्य, पंडित, इत्यादि नाममात्र को हैं। परन्तु यहा असंख्य किसान, दस्तकार, और नीच जाति के आदमी रहते हैं। उनके अनेक गुणों पर विचार न करते हुए भी हमें मानना पड़ता है कि केवल उनकी संख्या की अधिकता एकमात्र उनको समाज में सन्मान का अधिकारी बनाती है। इस के अतिरिक्त देश की सारी सम्पत्ति को वे लोग उत्पन्न करते हैं। वर्ष के आरंभ से वर्ष के अन्त तक वे सभी काम करते हैं। वे ही सब के लिये भोजन तथा वस्त्र की सामग्री तैयार करते हैं। वेही मकान, तथा सड़कें इत्यादि बनाते हैं। क्या वर्षा ऋतु में, क्या कठिन असह्य धूप में, वे हल चलाते और खेत बोते हैं और वेही लोग उन सब पदार्थों को पैदा करते हैं जिन पर प्राणियों का बल और जीवन अवलम्बित है। किसान ही समाज के अङ्ग के

लिए विष्णु स्वरूप अन्नदाता है। किसान ही ज्योतिर्मय भास्कर भगवान है, जिसके प्रकाश से हम समस्त नक्षत्रगण दीप्तिमान होते हैं। क्या स्वामी और क्या शेख, क्या पंडित और क्या प्रचारक, क्या वकील और क्या बैरिस्टर, क्या अमीर और क्या उमरा, किसान ही सब का अन्नदाता है।

दस्तकार लोग किसानों के हर एक काम में सहायता दिया करते हैं। उनका किसानों से चोली दामन का साथ है। कच्ची कपास तथा कच्ची खाल, जंगली लकड़ी तथा मैली कुचैली धातुओं का संस्कार कर तथा उनको रूप रंग देकर दस्तकार लोग उन्हें मनुष्य मात्र के लिये उपयोगी बना देते हैं। यह दस्तकारों ही की प्रवीणता का फल है कि हम लोग सुन्दर घरों में रहते हैं और सुन्दर वस्त्र पहिनते हैं, मनोहर पात्रों में भोजन करते हैं और विचित्र रुद्राक्ष की मालायें धारण करते हैं। वेही उन सारी वस्तुओं को बनाते हैं जो मनुष्य मात्र के लिये आवश्यक समझी जाती हैं। वास्तव में एक दस्तकार किसी जादूगर से कम नहीं। अब आगे बढ़कर देखिये कि नौकर चाकर लोग समाज की कितनी आवश्यक सेवा करते हैं। आप विचार सकते हैं कि मेहतरों के बिना आपके घर की क्या दुर्गति हो सकती है। डोलीवालों के बिना हमारी स्त्री समाज का क्या तकलीफें हो सकती हैं। मेहतर लोगों की समाज पर एक प्रकार का प्रभुता है। पर क्या वे अपनी शक्ति तथा प्रभुता का ज्ञान रखते है? कदापि नहीं। मेहतरों की एक अठवारे की हड़ताल से हमारे राजे महाराजों तक की आंखें खुल सकती हैं। उनका सारा गर्व चूर्ण हो सकता है। प्रिय पाठक गण! इन्हीं गुणों के कारण मैं अपना मस्तक इन महापुरुषों के सामने झुकाता हूँ और आशा करता हूँ कि हमारे पढ़े लिखे बाबू लोग वक्तागण तथा अन्य महाशय इस व्यवहार पर अचम्भित तथा कुपित न

होंगे। मुझे आशा है कि हमारे प्रेजुएट लोग इस बात को सुनकर क्रुद्ध न होंगे कि उनकी वर्तमान स्थिति को देखते हुए मेरा श्रद्धा उन पर लेशमात्र भी नहीं। किसी वृक्ष की मजबूती का पता चलाने के लिये हमें उसकी जड़ की तरफ ध्यान करना पड़ता है। फूल फलादि का होना जड़ ही पर निर्भर है। इसी प्रकार समाज की दशा है। यदि हमारे राजे महाराजे समाज रूपी वृक्ष के फूल फलादि कहे जा सकते हैं तो अवश्य हमारे किसान हमारे दस्तकार उस वृक्ष के मूलाधार हैं, इसीलिये समाज की उन्नति और अवनति किसानों और दस्तकारों ही की उन्नति और अवनत अवस्था पर कायम है, पर बहुत से लोगों का मत ठीक इसके विरुद्ध है। वे समाज के वैभव के मुख्य कारण राजे महाराजों ही को समझते हैं। उन्हीं की अवस्था को देख कर वे समाज की अवस्था का पता चलते हैं, यह सर्वथा भूल है। मैं तो राजे महाराजों का सम्पत्ति के मूल कर्ता का उपासक हूँ। क्या महल के रहने वाले महल बनाने वालों की अपेक्षा अधिक आदरणीय हो सकते हैं? कदापि नहीं। इसी पक्ष को लेता हुआ मैं अपने को समस्त निराश्रित दीन जनों का मुख स्वरूप मानता हूँ। और इस समय में इन्हीं परिश्रमशील किसान तथा राज मजदूर इत्यादि के विषय में कुछ आवश्यक बातों पर विचार करना चाहता हूँ।

यह कैसी विचित्र शोचनीय बात है कि न तो हमारे ग्रन्थों ही में और न इतिहास ही में किसानों इत्यादि के विषय में कोई लेख है। उनकी महिमा बतलाना तो दूर रहा, हम, देखते हैं कि उनका वर्णन मात्र तक शायद ही कहीं किया गया हो। इससे विदित होता है कि वे लोग बिलकुल तुच्छ दृष्टि से देखे गये हैं। वर्णाश्रम की प्रथा के अनुसार उन लोगों का समाज में सदा निकृष्ट स्थान दिया गया है और पंडितों तथा क्षत्री आदि के

भाग में सदा उच्च ही पद पड़े हैं। आप विचार सकते हैं कि इस से अधिक अन्धेर और क्या हो सकता है? प्राकृतिक नियम का इससे बढ़कर उल्लंघन और क्या हो सकता है? जिसके द्वारा समाजरूपी चक्र का संचालन हो, उसी का यह अनादर उसी की यह दुर्दशा? हा शोक! वर्णाश्रम की महिमा गाते-गाते लोग जामे से बाहर जाया करते हैं, परन्तु शोक की बात है कि वे इस विषय पर ध्यान तक नहीं देते, कि जिन मनुष्यों से समाज की शोभा बढ़नी थी उनका तो निपट निरादर होरहा है। खासा उलट फेर होगया है। क्या हिन्दू जाति के एक मुख्य अङ्ग का इस हीन दशा को प्राप्त होना वर्णाश्रम की प्रणाली को अन्याययुक्त प्रमाणित नहीं करता? आगे वाली बात पीछे पड़ गई है।

मेरा यह अभिप्राय नहीं कि जाति पांति का प्रश्न ऐक्यता तथा जातीयता के लिए हानिकारक है। इस विषय पर मैं वादाविवाद नहीं करता। इस समय तो मैं केवल यही दिखलाना चाहता हूँ कि वर्णाश्रम के सिद्धान्त ने हमारे दिलों पर कैसा खोटा प्रभाव जमा रक्खा है जिसके कारण हम सदा से किसानादि को ब्राह्मण और क्षत्रियों से नीच मानते आये हैं, और वैसा ही इस समय तक मानते जा रहे हैं। नहीं, नहीं केवल इतना ही नहीं। केवल हमी उनको नीच नहीं मानते आये बल्कि हम उनको भी ऐसी शिक्षा देते आये हैं जिससे वे अपने आपको तथा अपने पद को निकृष्ट और तुच्छ जाने। ऐसी अवस्था में यह बिलकुल आश्चर्य की बात नहीं कि किसानादि निज मान तथा निज बल को भूल गये हों। यदि अब भी हम इन लोगों के प्रति कुछ उपकार करना चाहते हैं तो सब से पहले हमें उनकी चित्तवृत्ति में परिवर्तन करना चाहिये अर्थात् उनके हृदय से उस उदासीनता और पस्तहिम्मती को दूर करना

चाहिये जो आजन्म के दासत्व से इस समय उन पर छा रही है। परिडत, साहूकार, महाजन और जमींदारों को इन बातों को समझाने से कोई फल न होगा, क्योंकि स्वार्थरत तथा अभिमानी पुरुष ऐसी बातों पर ध्यान नहीं दिया करते। उदाहरणार्थ एक ग्रेजुएट इस बात को कभी स्वीकार न करेगा, कि साधारण बढ़ई की उपयोगिता उसकी उपयोगिता से कहीं अधिक है, क्योंकि उसे तो डिपलोमे ने मदान्ध कर रक्खा है। एक राजा साधारण लोहार के समक्ष कदापि मस्तक न झुकायेगा क्योंकि धन तथा मद में चूर वह सत्मार्ग को छोड़े हुए है। केवल किसान ही आपके आशा-पूर्ण समाचार को सुन कर कृतकृत्य होगा किसानों को अपने बल और पुरुषार्थ का स्मरण उसी समय होगा जब वह जान लेंगे कि वास्तव में उन का पद निकृष्ट नहीं, बल्कि सर्वश्रेष्ठ है। नहीं, नहीं, हमें उचित है कि हम उन को बतला दें कि उन्हीं का पद उच्च है, तथा दूसरे लोग तो कोई पद रखते ही नहीं। इन बातों को सुनकर किसान फूला न समायेगा। जब वह समझ लेगा कि वही तो सच्चा आर्यपुत्र है, तब वह ब्राह्मण, क्षत्री, महाजन, साहूकारों इत्यादि के सन्मुख गिड़गिड़ाना बन्द कर देगा। प्यारे भाइयों! समय आ गया है कि हम लोग अब पुराने जर्जर सिद्धान्तों को जो इस समय समाज के लिये प्राणघातक हो रहे हैं उठाकर ताक पर रखदें और नवीन सिद्धान्तों तथा नवीन विचारों को समाज में स्थापित करें।

हिन्दू लोगों का राजा रानियों पर सदा से बड़ा ही अनुराग रहा है, यहाँ तक कि किस्से कहानियाँ भी उन्हीं के नाम से शुरू किये जाते हैं। इसका फल यह होता है कि बच्चों की विचार शक्ति में शैशव काल ही से विकार उत्पन्न होजाते हैं। वैभवशाली लोगों को सर्वोच्च मानने का परिणाम यह हुआ

कि किसान और दस्तकार लोग हमारी दृष्टि से गिर गये हैं। सब से बड़ा अधर्म तो हमारी धार्मिक संस्थाओं के कारण हुआ है। बौद्ध धर्म्म तथा अन्य धर्म्मावलंबियों ने अर्थशास्त्र को माया रूप समझ उसकी सदा निन्दा की है। अन्न पैदा करना, मकान इत्यादि का बनाना, और ऐसे ही अन्य परमावश्यक कार्यों को वे तुच्छ मानते आये हैं। उनकी समझ ने तो केवल यहीं तक काम दिया है, कि किसी सिद्ध-साधक का इन भ्रमजालों से सम्बन्ध ही क्या? इसी तरह के दोष-पूर्ण विचारों के कारण मेहनत मजदूरी का अत्यन्त निरादर हो रहा है। पहले समय के मंत्रादि में भी योगी यती ही सब सम्मानित माने गये हैं अर्थात् ऐसे लोगों का मान होता आया है, जो दूसरों के भरोसे रह कर अपना कालक्षेप करते हैं। अब यदि आप पक्षपात त्याग कर देखें तो आपको मालूम होगा कि यही योगी यती लोग राजों महाराजों के मुँह ताका करते हैं। यह बात बहुत लोगों को मालूम होगी कि भारतवर्ष के कितने ही प्रसिद्ध महात्मा लोग राजाओं के आश्रय में थे, और अब भी हैं। कदाचित् वे समझे हुए हैं कि हिन्दू समाज का उद्धार राजों महाराजों पर ही निर्भर है, क्या यह लज्जा की बात नहीं कि जो लोग सुख सम्पति इत्यादि को तिलांजलि दे संसार से विरक्त हो चुके हैं। वही लोग विलासप्रिय राजों महाराजों से नाता जोड़ उनके कृपा-पात्र बनने की चेष्टा करें? भारतवर्ष के लोग वस्तुतः बड़े ही अभागे हैं। यदि ऐसा न होता तो क्या उनके साधु महात्मा भी उन्हें छोड़कर राजों महाराजों से नाता जोड़ने जाते? अन्य उपदेशक तथा सुधारकों ने भी केवल मध्यम श्रेणी ही के लोगों का उपदेश किया है जैसे कि वकील बैरिस्टर, सेठ, साहूकार, इत्यादि। किसानों, दस्तकारों इत्यादि का उन्हें ध्यान तक नहीं आया। बाहरी सम्पति देवी! इस संसार की श्रेष्ठ से

श्रेष्ठ वस्तु तक को भी तुम अपनी ही ओर आकर्षित कर लेती हो। और किस किस की कहूं, शिक्षा तथा आत्म सुधार की सामग्री भी तुम्हारे ही निकट खिंचकर पहुँच जाती है। जब स्वामी और महात्मा लोग अमीरों के पक्ष में जाने लगे, तो जन समूह के भाग्य में दासत्व बना बनाया है।

हम देखते हैं कि भारतवर्ष में प्रत्येक कार्य बड़े ही आदमियों की अर्थ सिद्धि के लिए किया जाता है। कांग्रेस में भी सरकार से उन्हीं के लिए अधिकार माँगे जाते हैं। कालेज और स्कूल उन्हीं की संतानों के लिए खोले जाते हैं। राजे महाराजे, किसानों ही के रुपये से विश्व-विद्यालय बनवाने में चन्दे दिया करते हैं, और उन्हीं की सन्तानों को इसका फल मिलता है। किसान बेचारों की सन्तानों को पूछता ही कौन है? यदि दूर देशों में विद्योपार्जन के लिए छात्रगण भेजे जाते हैं तो केवल किसानों ही की कमाई से। इसी तरह के अन्य कार्यों से बड़े ही आदमियों को लाभ पहुंचता है। उनसे किसानों का क्या उपकार? और ध्यान देकर विचारिये तो पता लगेगा कि इन समस्त कार्यों में किसानों ही का धन लगता है, पर वे स्वयं उनके फलों से वंचित रहते हैं। इस समय पञ्जाब प्रांत में कुछ देश प्रेमी लोग आत्मत्याग कर शिक्षा सम्बन्धी कामों में लग रहे हैं। परन्तु किसके लिए? केवल मध्यम श्रेणी वालों ही की सन्तानों के लिए। क्या यह बात विचारणीय नहीं है कि इन देश हितैषियों का अमूल्य जीवन बाबू, महाजन, वकील, इत्यादि बनाने में बिता दिया जावे? क्या इसी को आप उन्नति कहते हैं? आप ही कहिये, कि क्या इन बातों से किसान बिचारों को कुछ भी लाभ होता है।

एक और अद्भुत दृश्य देखने में आता है, वह यह है कि हमारे राष्ट्रीयदल वाले भी किसानों का ज़रा परवाह नहीं करते।

कदाचित् ये लोग राजों महाराजों से विभूषित, अथवा पार्लियामेंट की रीति पर साम्राज्य बनाने का स्वप्न देख रहे हैं। इन में से जो लोग कुछ बुद्धिमान है, वे केवल मध्यम श्रेणी के लोगों का पक्ष लिया करते हैं। आश्चर्य तो यह है कि जन समूह तो किसी की गणना में आता ही नहीं। इसका कारण क्या है? हम किसानों तथा दस्तकारों को क्यों भूल जाते हैं, और उनको समाज में क्यों सदा निकृष्ट स्थान देते हैं? इसका उत्तर केवल यही हो सकता है कि हमारी विचार-शक्ति में पहले ही से दूषण भर गये हैं। पढ़े लिखे साफ़ सुथरे तथा अनपढ़ और मैले कुचैले मनुष्यों के बीच हमने एक हद बांध रक्खी है, जिस तक पहुँच कर हमारी विचारशक्ति का अन्त हो जाता है। उस सीमा के आगे हमारी विचारशक्ति जा ही नहीं सकती, परन्तु जिस सीमा पर हमारी विचारशक्ति विश्राम पाती है, उसी सीमा से मनुष्य जाति का प्रारम्भ होता है।

हम लोग सबके सब अपने जीवन को पाखण्ड में डाले हुए मिथ्या मनुष्यों की सेवा में उसे नष्ट कर रहे हैं। हमारे समस्त धनाढ्य लोग नकली सिक्कों की भांति हैं। वे सच्ची मनुष्य जाति के हास्य-पूर्ण प्रतिबिम्ब हैं। मोती सदा समुद्र की तह में वास किया करता है, सतह पर केवल खर पतवार ही उतराया करती हैं। ठीक यही दशा समाज में देखी जाती है। भारतवर्ष के जन-समूह की वर्तमान दशा बहुत ही शोचनीय तथा अविद्या रूपी अन्धकार से ग्रसित है। किसान लोगों ही को सब से अधिक कर देना पड़ता है। वही बेचारे आधे पेट खाकर और मोटे महीन कपड़े पहिन, जीवन-निर्वाह करते हैं। प्लेग, अकाल इत्यादि में सब से पहले वेही भेंट चढ़ते हैं। उन्हीं के धन से राजे महाराजे, सरकारी कर्मचारी, जमींदार इत्यादि अपना पेट भरते

हैं। परन्तु स्वयं अपने लिए तथा अपने परिवार के लिए किसान दूसरों ही का मुंह ताका करते हैं।

जिस समय एक दीन, दुःखी, कृश-तन, मलिन मुख किसान लकड़ी का हल ले, पीड़ा से व्यथित, अपने दुःखों को भूला हुआ, संसार के सुखों से अनभिज्ञ खेत जोतने जाता है, तो उस समय करुणारस से पूर्ण हमें भारतवर्ष की वर्तमान दीनता का प्रतिरूप देखने में आता है। क्या ही हृदय विदारक दृश्य है! यदि भारतीय किसान अपने दुःख की कहानी सुनाने में समर्थ होते तो इस समय हम उस घोर क्रन्दन तथा विलाप को सुनते, जिस पर विचार करते ही कलेजा कांप जाता और नेत्र अश्रुपूर्ण हो जाते हैं। जिस समय किसान इत्यादि अपना दुःख रोना जान जायेंगे, उस समय वे बड़े २ कवियों की कविताओं पर पानी फेर उन्हें लज्जित कर देंगे। भारतवर्ष के सच्चे जातीय गीत अभी गाये जाने को हैं। शहरों में दस्तकार तथा देहातों में किसान लोग बड़ी ही दीनता तथा अज्ञानता से वास करते हैं। उन्हें इस बात का पता भी नहीं कि ऐक्य तथा समाज संगठन किस चिड़िया का नाम है। उनमें स्वाभिमान की गन्ध मात्र नहीं। इन प्राणियों के उद्धार का भार कोई बिरला ही मनुष्य उठा सकता है। इस शुभ कार्य में तन मन अर्पण करने का सौभाग्य किसी महान् आत्मा ही को प्राप्त हो सकता है। हां, मनुष्य जाति की कीर्ति के लिए यह कह देना आवश्यक है कि इन दुःखी दीनजनों की बेड़ी काटने वाले प्रायः बड़े ही आदमियों में से उत्पन्न हुए हैं, ऐसे २ पुरुष-रत्नों के प्रेम ने जाति पांति के भेदा-भेद को नहीं जाना। उन्होंने गरीब गुरबों ही के दुःख से निज दुःख तथा उनके सुख से निज सुख माना है। ऐसे बहुत ही थोड़े मनुष्य मिलेंगे जो दीन दुःखी जनों के साथ सहानुभूति तथा भ्रातृभाव प्रकट करें। यदि थोड़े लोग हैं भी तो उन्हें इस

शुभ कार्य के लिये स्वयं अपने बन्धुओं द्वारा अपमानित होना पड़ता है। परन्तु जिनकी वे सेवा करते हैं उनके वे उपास्य-देव बन जाते हैं। इन उदार पुरुषों ने इस बात को समझ लिया है कि उनकी विद्या, उनकी बुद्धि, तथा उनका आत्म-प्रकाश किसानों ही के उस दान का फल है जिससे बड़े २ कालेज इत्यादि बनते हैं पर जिससे उनकी सन्तानों को कोई भी लाभ नहीं पहुँचता। ऐसे लोगों ने बड़ी ही कृतज्ञता के साथ इस बात का अनुभव कर लिया है कि उन्हें किसानों का ऋण चुकाना है और इस ऋण के चुकाने की इससे बढ़कर और कोई रीति नहीं, कि वे अपने जीवन को उनकी सेवा में व्यतीत कर देवें। ऐसे लोग अपने स्वार्थरत, काहिल, निकम्मे साथियों से अलग हो, किसान इत्यादि जैसे उद्यमी पुरुषों के भाग्य में निज भाग्य को मिला देते हैं। याद रखिये, आप इन दुःखित जनों की सेवा स्वयं दीन बन कर कर सकते हैं अन्यथा नहीं। यदि आप किसानों इत्यादि के प्रति कुछ भी उपकार करना चाहते हैं तो जाइये; और उनके बीच में रहिये। उनके साथ रूखा-सूखा भोजन कीजिए, तथा उनकी देहाती बोली बोलिये, उनके बीच बाबू बनकर नहीं बल्कि उनके सहकारी बनकर रहिये। कानफ्रेन्स तथा कांग्रेस के प्लेट-फार्मों से उन्हें विद्याभिमान से पूर्ण उपदेश मत दीजिये। उससे किसानों का तनिक भी लाभ न होगा। अपने मलमल तंजेब आदि के वस्त्रों को त्यागिये, और तब जाकर देहातों में काम कीजिये। राजे महाराजे, सेठ साहूकार इत्यादि इन लोगों का उद्धार कदापि नहीं कर सकते। यदि आप लोगों में से कुछ ऐसी पवित्र आत्मायें हैं, जो सच्चे पवित्र प्रेम तथा आत्म-त्याग की भूखी हैं तो उनको बड़े आदमियों की सुख-वृद्धि का ध्यान छोड़ किसानों इत्यादि की दुर्दशा पर ध्यान देना चाहिये, क्योंकि देखिए, बेचारा किसान अपना हल लिए हुए कातर स्वर से आप

लोगों के समक्ष पूछ रहा है कि "क्या किसी समय मेरा भी भाग्योदय होगा ?"

—:o:—

# आशावाद

भारतवर्ष का ज़माना भविष्य की तराजू में लटक रहा है। अन्धकार और प्रकाश की शक्ति उस पर शताब्दियों तक कब्ज़ा करने के लिए प्रयत्न कर रही है। क्या हिन्दुस्तानी उन्नति करेंगे और मनुष्य बनेंगे ? यह एक प्रश्न है जो तमाम देश के प्रबन्ध पर विचार करने वाले चिन्ताशील आत्माओं के सन्मुख उपस्थित है। हम बहुधा निराशचित्त महात्माओं को कहते हुए सुनते हैं कि भारतीय जाति एक नष्ट-भ्रष्ट हो जानेवाली जाति है। हमारे योग्य हित-चिन्तक विश्वास दिलाते हैं कि प्रकृति को यह मंजूर है कि हिन्दुस्तानियों को अभी कम के कम एक शताब्दी तक अविद्या और दीनता की दशा में रक्खे। हमारे समाज सुधारक बहुत जोर के साथ कहते हैं कि भारत का आर्थिक प्रश्न उस समय तक हल नहीं हो सकता जब तक इने-गिने सुधार कार्यरूप में परिणित न हों। हमारे यहाँ ऐसे धार्मिक महन्त हैं जो प्रायः कहा करते हैं कि भारतवर्ष के भविष्य के लिए कोई आशा नहीं जब तक कि वह ईश्वरीयता का जामा न पहिने। प्रायः अर्द्ध-शिक्षित और भिन्न २ श्रेणी के लोग जो इस परिवर्तन के समय में पाये जाते हैं, अपनी योग्यता के अनुसार काम कर रहे हैं—कुछ न कुछ साधारण सुधार करते हैं—किन्तु, इन महात्माओं की दृष्टि में भारतवर्ष की प्राण-प्रिय आशाओं के पूरा होने का समय बहुत दूर है। इन्हें विश्वास नहीं कि अकाल, महामारी और अविद्यान्धकार का अन्त शीघ्र होगा। इन्हीं कारणों से राष्ट्र के उन्नत हृदय नवयुवक दुखी और निराश हो रहे हैं

उनके दिलों में नेताओं की इस शिक्षा से नैराश्यता बड़ी सरलता के साथ जगह कर लेती है। उमङ्ग और उच्चाभिलाष का साथ ही साथ अन्त हो जाता है। कोई व्यक्ति अपने आनन्द-मय जीवन को मातृभूमि की पवित्र वेदी पर बलिदान करना नहीं चाहता। यह तो निश्चय है कि जिस आदर्श को कार्यरूप में परि-णित नहीं किया जाता वह सरगर्मी पैदा नहीं कर सकता। एतदर्थ, सर्वसाधारण की उमङ्ग को उभारना बिल्कुल व्यर्थ सा मालूम पड़ता है। भारतवर्ष के भाग्य का निर्णय बीसवीं शताब्दी में एक मुख्य प्रश्न है। निकटवर्ती समय की निराशा हमारी सारी चेष्टाओं पर, उन चेष्टाओं पर जो अत्यन्त कठिनाइयां और कष्टों एवम् बहुत बड़े आत्मोत्सर्ग के पश्चात् अपना फल प्रकट करती हैं, लकवा मारने का काम कर रही है।

वे व्यक्ति जो निराशावादी हैं नवयुवकों से कहते हैं कि देश की आर्थिक दशा बढ़ने के पूर्व तुम्हें बहुत बड़े बड़े पड़ाव तय करने पड़ेंगे। ये लोग हिन्दुस्तानियों की योग्यता के बारे में बहुत ही साधारण राय रखते हैं। वे कहते हैं कि हम बहुत ही खुशा-मदी और गिरे हुए हैं। हम में आचरण नहीं, हम में जोश नहीं हम में शक्ति नहीं, हम में एकता नहीं, हम निरक्षर भट्टाचार्य हैं। हम एक दूसरे से मिलकर काम करना नहीं जानते, हम में अधिकांश लोग अयोग्य और स्वार्थी हैं। हमारी स्त्रियां पढ़ी लिखी नहीं हैं। हम यूरोप से शताब्दियों पीछे हैं। देश के प्रबन्ध में हमारी योग्यता और हमारा ज्ञान बहुत ही परिमित है, हमारे मार्ग में अनेक कठिनाइयां हैं। संसार के अन्य देश बहुत शक्ति-शाली हैं, उनका महत्व कहीं ज्यादा है। वे अपने उद्देश्यों को पूरा करने में अत्यन्त चतुर हैं। भला, ऐसी दशा में सफलता का होना कैसे सम्भव है? निःसन्देह इन महानुभावों की ये दलीलें—यदि आजकल के वैज्ञानिक रहन-सहन के ढङ्ग पर विचार न करके

देखी जायें-- बहुत जबर्दस्त है। किन्तु जिस प्रकार किसी अभागे आदमी के विरुद्ध प्रत्येक आदमी अपनी सम्मति रखता है, ठीक उसी प्रकार हिन्दुस्तान की दशा है। वर्तमान समय की अविद्या और दरिद्रता राष्ट्र की शक्ति को ऐसा कुम्हलाये देती है कि वह भविष्य को देख ही नहीं सकती।

इस कथन से मेरा अभिप्राय यह है कि भारत का आर्थिक प्रश्न इसके पूर्व कि २० वर्ष गुजरें हल हो जायगा। जो शक्तियां भारतवर्ष में काम कर रही हैं उसकी गति को भली भांति समझ लेने के पश्चात मेरा यह दृढ़ मत है, और इस मत को मैंने अपनी उमंग से प्रभावित होने नहीं दिया। मैंने केवल समाज शास्त्र के नवीन तरीकों को भारतवर्ष पर चरितार्थ करने का प्रयत्न किया है और उन्हीं से यह परिणाम निकाला है जिसके कारण समाज सुधारकों को नैराश्यता के विचार मस्तिष्क से निकाल देने चाहिये। बुद्धि हमें आशा का पाठ पढ़ाती है, हृदय भी उसी ओर संकेत करता है और जब हृदय और मस्तिष्क एक होते हैं तो हमें निराश होने का कोई कारण नहीं।

भारतवर्ष के भविष्य को आच्छादित करने वाले काले बादलों में ऐसी कौनसी रुपहली रेखा है? इस प्रश्न पर विचार करने के लिए हमें उन तमाम शक्तियों को, जो जीवन की आन्तरिक दशा को प्रगट करती हैं, देखना चाहिये—और उन्हीं पर वाद-विवाद करना चाहिये।

## हिन्दुस्तानी रियासतें

बहुत से लोग यह भूल जाते हैं कि भारतवर्ष का एक तिहाई हिस्सा देशी राज्यों के अधिकार में है और दो स्वतंत्र रियासतें भी देश में हैं। रियासतों में हमारी अभिलाषाओं के प्रकट करने में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं है। यहां पब्लिक-स्प्रिट दिखलाने

का काफ़ी मौका है। वहाँ सामाजिक सङ्गठन की ऐसी गिरी हुई दशा नहीं है जैसी बृटिश इण्डिया में है। लोग कायर और दास नहीं हैं। उनमें देश का गर्व मौजूद है। वीरोचित खेल और व्यायाम वहाँ भूले नहीं जा चुके हैं। पूर्वीय समाज का प्राकृतिक वायुमण्डल किसी निर्द्धारित सीमा तक स्वतन्त्रता का अधिकार देता है। रियासतों में जीवन, शक्ति और पुरुषत्व है। दरबारों में सुधार हो रहे हैं। उन्नत-मस्तिष्क शासक उन लोगों के लिए जिन पर वे टेक्स लगाते और शासन करते हैं, अपना कर्तव्य पूरा करने का प्रयत्न कर रहे हैं। विदेश यात्रा कुछ राजाओं की आँखें खोल चुकी है कि किस तरह उन्नति करनी चाहिए।

सरकारी विश्वविद्यालय के ग्रेजुएट सरकारी नौकरियों के न पाने पर रियासतों में पहुँच रहे हैं, यह क्रम कुछ समय व्यतीत होने पर उन्नति करेगा। पुराने और अयोग्य मन्त्रियों के न रहने पर सुशिक्षितों को अवसर मिला है कि राजकीय कामों में वे अपनी योग्यता दिखलावें। जब कि ७ करोड़ के लगभग अपने देश-भाई रियासतों में रहते हैं तो मातृ-भूमि के किसी सेवक को निराश नहीं होना चाहिए कि उसके लिए देश-हित साधन का कोई द्वार नहीं है। स्वतन्त्र चित्त के देश सेवा करने वाले लोग रियासतों में बहुत कुछ काम कर सकते हैं। योग्य और न्याय-प्रिय समाचारपत्र सम्पादक सर्वसाधारण में जीवन पैदा कर सकते हैं, ज़िन्दा दिलों को उभार सकते हैं और जनता में सामाजिक शक्ति का संचार कर सकते हैं। जीवन-शून्य वादविवाद, कांग्रेस, और बृटिश हिन्दुस्तान के समाचार पत्र, गुलाम आबादी की लाश में प्राण नहीं फूंक सकते। सार्वजनिक शिक्षा प्रचार से स्वतंत्र राजनैतिक संस्थाओं को जन्म दिया जा सकता है जिससे राजाओं की हुकूमत कम हो जायगी। ऐसा ही यूरोप में हुआ है और यही हिन्दुतान में होगा।

## धार्मिक संस्थायें

ये देश के मामले से कुछ सम्बन्ध नहीं रखतीं किन्तु इनमें जीवन और शक्ति है। ये अपने ऊपर शासन करना जानती हैं। ये जानती हैं कि भारतवर्ष उनका देश है और देशभक्ति उनका धर्म है। बस केवल उनके उचित गर्व को काम की ओर झुक जाने भर की देर है। इनकी ज्योति अभी बुझी नहीं है, उसे लपट की भाँति प्रकाशमय कर देना चाहिये।

यह विचार करने से दुःख होता है कि धार्मिक सङ्गठन करने वाली भिन्न २ समाजें स्वतंत्र और स्वाधीन जीवन स्थिर रखने में शक्तिहीन हैं—मृत्यु का हाथ उन पर आ पहुँचा है। वे दासत्व और कायरता का विष फैला रही हैं। वे धर्म का वर्णन करती हैं, किन्तु भय उनके दिल में है। वे परमात्मा की पूजा के गीत गाती हैं परन्तु अन्याय और अत्याचार की उपासना करती हैं। वे मुक्ति की इच्छा करती हैं किन्तु जञ्जीरों में जकड़ी हैं। उन्हें चाहिए कि प्राचीन सङ्गठन से उपदेश ग्रहण करें।

## मध्य-श्रेणी के लोगों की उन्नति

पचास वर्ष के समय में मध्य श्रेणी के लोगों की उन्नति आश्चर्यजनक है। यह एक अद्भुत श्रेणी मालूम पड़ती है। इसके जीवन का अवलम्बन सरकारी शासकों की दया पर निर्भर है। यह उन्हीं की निर्माण की हुई है। जब इस श्रेणी के लोग कायर और लालची होजाते हैं तब देश को मटियामेंट कर देते हैं, किन्तु जब उनमें से कुछ लोग भी साहस और जोश दिखलाते हैं तब उन का प्रभाव राजाओं और जमींदारों से कहीं अधिक होता है। इस श्रेणी के लोग देश को बना और बिगाड़ सकते हैं। लक्षणों से मालूम होता है कि वे बिगाड़ने की अपेक्षा देश को सुधारने की ओर हैं। वकीलों के क्लब, कान्फ्रेंसें, छोटी २

सरकारी नौकरियाँ, भिन्न भिन्न समाज और कांग्रेस, अधिकारी तंत्र को ढीला किये बिना बाज नहीं रह सकतीं। इस श्रेणी के सङ्गठन पर आक्रमण नहीं हो सकता। सरकार स्वयम् इसकी रक्षा करती है। मध्य श्रेणी के लोग ही भारतवर्ष के नेता बनेंगे। इस विषय में राजा लोग भी इच्छुक हैं कि यह श्रेणी उनकी सेनाओं का दम भरे। क्योंकि देश के समाचार पत्र और साहित्य इसके हाथ में हैं। राष्ट्र में एक भीषण परिवर्तन हो रहा है, मार्ग दिखलाने के लिए धन का स्थान मस्तिष्क ले रहा है। भारतवर्ष में जनसाधारण की सेवा करने वाले आजकल के शासक हैं, इनका प्रभाव प्रति वर्ष उन्नति करेगा। बीसवीं शताब्दी का भारत सिक्खों और मरहठों के समय से बिल्कुल भिन्न और निराला होगा।

## धनी लोग।

ये सामाजिक परिवर्तन में काफ़ी भाग नहीं ले सकते। ये तूफान और प्रचण्ड वायु में ठहर नहीं सकते। कायरता उनका स्वाभाविक लक्षण है। ऐसी दशा में यदि इस श्रेणी से नेताओं का चुनाव हो तो यह समाज का दुर्भाग्य ही समझना चाहिए। भूतकाल में इनका चुनाव हमारे पतन का एक मुख्य कारण रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि धन-पात्र पढ़े-लिखों के अच्छे सहायक हैं। किन्तु उन्हें इतने ही अधिकार दिये जाँय कि वे पुराने ढङ्गों को अपने कब्जे में ले आयें और उनकी उन्नति के लिए योजना करें। कारण स्पष्ट है कि वे अपनी मिलकियत की रक्षा का विचार पहले करेंगे तत्पश्चात् जनसाधारण के लाभ की ओर ध्यान देंगे। उचित तो यह है कि ब्राह्मणों को वैश्यों के ऊपर होना चाहिये। मध्यश्रेणी के लोगों की उन्नति किसी दाँव पेंच से रुक नहीं सकती, यह हमारे लिए बड़े महत्व का प्रश्न है कि हम इसकी शक्तियों को ठीक मार्ग पर ले आवें।

## जनता

भारतीय मनुष्य साधारणतः बलवान और मर्दाना होते हैं, यद्यपि देश का कुछ भाग शारीरिक दृष्टि से गिरा हुआ है और यह एक अटल सिद्धान्त है कि किसी जाति में शारीरिक क्षीणता का होना उसके मस्तिष्क-पतन का कारण होता है। बात यही है कि ये लोग देश की उन्नति में अधिक भाग नहीं ले सकते—ये सारी आवश्यकताओं के लिए व्यर्थ हैं। तथापि बारह करोड़ हिन्दुस्तानी जो मजबूत और बलवान काश्तकार हैं, संसार की सब से अच्छी जाति के मुक़ाबिले में रक्खे जाने के लायक हैं। सुप्रसिद्ध इतिहास लेखक गिबन के मतानुसार इनकी संख्या सम्पूर्ण रोम-राज्य से अधिक है। ये सादा जीवन व्यतीत करते हैं और बड़े ही शुद्ध आचार-विचार के होते हैं। राष्ट्र के लिए इन गुणों का होना अत्यन्त आवश्यकीय है।

## स्त्रियां

हमारी स्त्रियों में जो जीवन है उसे हम अब तक काम में नहीं ला सके। स्त्रियां पराधीनता की दशा में हैं। किन्तु यदि देखा जाय तो समस्त संसार की स्त्रियों का यही हाल है। इस दृष्टि से पूर्व और पश्चिम में बहुत ही कम अन्तर है। भारतीय स्त्रियां भविष्य के परिवर्तन में काफ़ी हिस्सा लेने के योग्य हैं। वे पतिभक्ति परायणा हैं। इसके अतिरिक्त उनमें अन्य अनेक गुण हैं। आवश्यकता है कि प्रत्येक नवयुवक अपनी स्त्री को देशहित की शिक्षा देने में दृढ़प्रतिज्ञ हो जाये क्योंकि इस विषय में उनकी एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी है।

## हिन्दू मुस्लिम प्रश्न

कुछ लोग हिन्दू मुस्लिम प्रश्न को निराशा की दृष्टि से

देखते हैं, किन्तु मुझे अधिक कठिनाइयां दिखलाई नहीं पड़तीं। पश्चिमी शिक्षा दोनों जातियों के नेताओं को परस्पर एक दूसरे से मिला देगी और द्वेष की जंजीर को काट देगी। सेंट्रल हिन्दू कालेज और अलीगढ़ कालेज में आचरण का जो सांचा ढल रहा है वह वास्तव में अपने ढङ्ग का एक ही है। एक पण्डित और मुल्ला की अपेक्षा विश्वविद्यालय की उच्च-शिक्षा प्राप्त हिन्दू-मुसलमान ग्रेजुएट एक दूसरे को ज्यादा समझते हैं। पश्चिमी शिक्षा वह काम कर रही है जो अकबर ने अपने शासन काल में किया था।

इनेगिने लोगों का कहना है कि पश्चिमी शिक्षा ने हिन्दू और मुसलमानों के बीच की खाड़ी को और भी चौड़ा कर दिया है, द्वेष कम होने की अपेक्षा अधिक बढ़ गया है, किन्तु ये लोग अदूरदर्शी हैं। इन लोगों ने प्रस्तुत विषय पर बहुत ही कम विचार किया है। जो परिणाम इन्होंने निकाल रक्खा है वह बड़ी शीघ्रता के साथ निश्चित किया गया है। इन्हें स्मरण रखना चाहिये कि कुछ स्वार्थी लोगों की आवाज समय की बढ़ती हुई शक्ति को रोक नहीं सकती। भंवर और चक्करों का उठना सम्भव है किन्तु पानी का बहाव रुक नहीं सकता। जो शक्ति विद्यार्थियों को हार्वर्ड और आक्सफार्ड लिये जाती है वह हैदराबाद और भूपाल में मित्र बना देगी।

दोनों जाति के नेता इस बात को स्वीकार करेंगे कि भविष्य में भारत का सामाजिक और राजनैतिक जीवन आजकल की हिन्दू-मुस्लिम जनता के साधारण जीवन से भिन्न होगा, क्योंकि पश्चिमी सभ्यता बीच के अन्तर को बड़ी तेजी से हटा रही है। सर्वसाधारण अपने प्राचीन रीति नीति पर स्थिर रहेंगे परन्तु दोनों जातियों के शिक्षितगण सामाजिक स्थिति और समय की चाल को देखकर दूध चीनी की भांति आपस में मिल जायेंगे।

एक मुसलमान बैरिस्टर-एट-ला हाफिज और हाजी की किसी बात को नहीं मानता। सच तो यह है कि भारतवर्ष में शिक्षितों की एक नई जाति बन रही है।

बीसवीं शताब्दी की कठिनाइयों की अठारहवीं शताब्दी के भारतवर्ष से तुलना नहीं करनी चाहिए। देश का शिक्षित सम्प्रदाय जो यूरोप अमेरिका के मध्यश्रेणी के लोगों से मिला हुआ है क्रम-क्रम से स्वतंत्रता की ओर अग्रसर होगा। जापान की उन्नति का यही रहस्य है। हिन्दुओं में उच्च जातियाँ अपनी प्राचीन अन्धनीति को मानना छोड़ देंगी और मुसलमानों के नेता अपने कलङ्कों एवम् सामाजिक रूढ़ि नीति पर स्वयम् दिल्लगी उड़ायेंगे, क्योंकि अर्वाचीन विज्ञान का प्रबल भाव प्राचीन रीति नीति को उड़ा रहा है। एशिया निवासी विद्यार्थी-गण अब बगदाद और बनारस से शिक्षा नहीं लेते, किन्तु बर्लिन पेरिस और लन्दन से उपदेश ग्रहण करते हैं। ज्योति की किरण जनसाधारण में अपना प्रभाव बिना डाले नहीं रह सकती, किन्तु अभी इसके लिए कुछ देरी अवश्य है। इस बीच में हिन्दू-मुसलमानों को अपनी अन्ध-परम्परा रीति नीति को भूल जाना चाहिये और मनुष्यता देवी का स्वतंत्र एवम् सच्चा भक्त होना चाहिए। पश्चिमी शिक्षा का प्रसार बढ़ता जा रहा है। कोई व्यक्ति आज मनु की स्मृति और इस्लाम की शरीअत को हाथ में लेकर यह नहीं कह सकता कि हम इनके मार्ग से उन्नति करेंगे।

भारतवर्ष अपने को एक बन्द पानी का तालाब बना कर और उस में प्राचीन समय के कीड़े-मकोड़े पैदा कर के बीसवीं शताब्दी में उन्नति नहीं कर सकता, उसे समय के साथ चलना होगा। हमारी जाति में जीवन के चिन्ह हैं जिन्हें काम में लाने की आवश्यकता है, और आवश्यकता है इस बात की कि

पश्चिमी सभ्यता का अनुसरण हो। जो लोग भय से काम कर रहे हैं, उनसे मैं कहता हूँ कि वह समय दूर नहीं जब कि उनकी अभिलाषायें पूरी हों किन्तु शर्त यह है कि निराशा की वेदी पर वे अपने को बलिदान न होने दें।

## अप्रत्यक्ष आचरण और साधारण जीवन

सर्वाङ्ग सुगठित राष्ट्र के लिये साधारण ( पबलिक-जीवन एक बहुत ही पवित्र अधिकार है। हमें बड़ी सावधानी के साथ समस्त हानिकारिणी शक्तियों से इसकी रक्षा करनी चाहिये। राजनीतिज्ञों का एक स्कूल भी है जो अप्रत्यक्ष (प्राइवेट) आचरण को राजनीति से पृथक करता है। वह स्कूल मनुष्य-जीवन को दो बनावटी भागों में विभक्त करता है और उसके अप्रत्यक्ष और साधारण जीवन पर विचार करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसके विचार में मनुष्य चेतनता और प्रवीणता की इन पृथक अवस्थाओं में आचरण के प्रतिकूल स्वतन्त्र रूप से आचरण कर सकता है। वह उन कार्यों का जो व्यक्तिगत अथवा अप्रत्यक्ष हैं, परित्याग कर देगा और हमें केवल राजनीतिज्ञों के साधारण आचरण की ओर देखने को कहेगा। इस तरह वह बड़े महत्व को नैतिक विभिन्नता को फैलाता है। वह धर्म को भी साधारण एवं अप्रत्यक्ष दो भागों में विभक्त करता है। इस प्रकार का विचार यूरोप के मुख्य केन्द्रों के भीतर फैला हुआ है। दुःख की बात है कि हममें से भी बहुत लोग राजनैतिक प्रवीणता को अग्रसर करने के लिये यूरोपीय प्रदेशों के से दोषपूर्ण नियमों को प्रचलित करने में प्रतिष्ठा पा रहे हैं। वे केवल इधर उधर की बातों में भटकते फिरते हैं। सच तो यह है कि उन्हें भारतीयों की आवश्यकताओं का यथेष्ट ज्ञान नहीं।

यह स्पष्ट है कि जो मनुष्य अपने अप्रत्यक्ष नैतिक विचारों में पिछड़ा हुआ है, वह राजनैतिक जीवन में किसी तरह यथेष्ट भाग नहीं ले सकता। उसे युवकों का पथप्रदर्शक या देश का नेता बनने का अधिकार नहीं। वह भारत के नवयुवकों को नष्ट कर डालने वाला होगा। राष्ट्रीयता का पवित्र आन्दोलन झूठे, दगाबाज, दुराचारी तथा दुष्टों द्वारा नहीं चलाया जा सकता। क्योंकि आन्दोलन में केवल उच्च राजनैतिक विचारों से ही कुछ नहीं होता, वरन् उसमें क्रियाशीलता की जरूरत पड़ती है। इसलिए हम कहते हैं कि हमें सच्चे मनुष्यों की आवश्यकता है, किसी जातिविशेष अथवा बात बनानेवालों की नहीं। हमारी सभा में झूठे, अनीतिज्ञ, बेईमान मनुष्य को स्थान नहीं मिलना चाहिये, चाहे वह बड़ा भारी राजनीतिज्ञ ही क्यों न हो, चाहे वह बड़े-बड़े व्याख्यान ही क्यों न देता हो और चाहे उसकी नीति हमारी नीति से हजार गुणा श्रेष्ठ ही क्यों न हो। यदि उसका आचरण दोषपूर्ण है तो ये सब बातें व्यर्थ है। उस मनुष्य का नाम हमारे आन्दोलन की कार्यावली में कभी नहीं पाया जा सकता जिसकी नैतिक अवस्था हीन हो।

उपर्युक्त मूल सिद्धांत को कभी नहीं भूलना चाहिये। अदूरदर्शी तथा कच्चे दिल के मनुष्य, जिन्हें कामों की अपेक्षा बातों ही में अधिक विश्वास है, हमारे सम्प्रदाय के बन्धन को कठोर बतला सकते हैं। परन्तु वास्तव में वह हमारे लिए गौरव की वस्तु है। हमको यह सदैव स्मरण रखना चाहिये कि बुरे तथा झूठे मनुष्य के बल से कोई भी पतित जाति उन्नति-शील नहीं बनी, वस्तुतः केवल धर्म ही निर्बलों की रक्षा करता है और उनको बल प्रदान करता है। यदि हम धर्म को छोड़ दें तो यूरोप की शुष्क राजनीति हमें खतरे से नहीं बचा सकती। आधुनिक शिक्षाप्रणाली के रङ्ग में रँगे हुए लोग, जो बुरी तरह

से जातीय बन्धन से प्रथक् हो रहे हैं, कहते हैं कि धर्म को दूर रखने ही से जाति का उत्थान हो सकता है। किन्तु, हमें लोगों को इस बात पर ध्यान देना चाहिये कि प्रशान्त जातीय जीवन की क्षुद्र नीति से किस तरह हम तुच्छ बनते जा रहे हैं।

यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि जीवन संग्राम में सिर्फ नम्रता अथवा उग्रता ही किसी जाति की रक्षा नहीं करती। वास्तव में, भारत के जातीय जीवन के महार्णव में जिसका प्रवाह शास्त्रोक्त धर्म में परिणित होकर जारी रहता है, ये सब बातें केवल जल-बुद्बुद के सदृश हैं। आचरण की प्रभुता सम्पति से प्रचंड है, इतना ही नहीं, वरन् आचरणहीनता के कारण सम्पति का मूल्य कुछ भी नहीं समझा जाता। भारत गिरा हुआ है, इसका कारण यह नहीं है कि अप्रत्यक्ष तथा राजनैतिक आचरण के विषय में हम लोगों के विचार उच्च नहीं वरन् यह है कि हम लोगों का हृदय शुष्क है और संसार की चीज़ों की ओर बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी, कर्तव्य को परित्याग करने के लिए विशेष झुक जाता है। भारतीय मस्तिष्क गर्म अथवा नर्म बातों में बड़ी कुशलता पूर्वक तर्क कर सकता है, परन्तु भारतीय हृदय ठण्डा और भारतीय आत्मा अचेतन है। यही वास्तविक रोग है। हमें मस्तिष्क-बल की आवश्यकता नहीं। आवश्यकता है आचरण की जिसकी हम में कमी है। अतएव शांत राजनैतिक विचारों से आचरण की बुराइयों का सुधार नहीं हो सकता। एक छटांक धर्म एक मन शुद्ध राजनैतिक फ़िलासफ़ी के बराबर है। राष्ट्रीय उन्नति के लिए पवित्रता, सत्यता और उदारता ये सब गुण हैं और वह मनुष्य जो इन सब गुणों से विभूषित है, आदर्श देशभक्त है। यद्यपि वह कभी राजनैतिक युद्ध-स्थल में नहीं घुसा है अथवा उसने, उन अनाचारी, बुद्धिमान मनुष्यों के झगड़ों में, जो कहते हैं कि हम भिन्न

भिन्न राजनैतिक विचार के हैं—भाग नहीं लिया है, तथापि कोई हानि नहीं।

अप्रत्यक्ष आचरण मनुष्य की पवित्रता की जांच करने वाला है। जो मनुष्य अपनी अप्रत्यक्ष बातों में दूसरों से मिथ्या भाषण करता है, वह कदापि सार्वजनिक जीवन में सत्य नहीं बोल सकता। जब वह प्लेटफार्म पर वक्तृतायें देने के लिये खड़ा होता है अथवा प्रेस में भेजने के लिए कोई लेख लिखने बैठता है, उस समय वह कोई नया मनुष्य नहीं बन जाता। वह उसी छद्मवेशी की भांति है जो दिन में नवीन नैतिक वस्त्र को तीन बार बदला करता है। वह मनुष्य नैतिक तथा मानसिक शक्ति का एक खण्ड है, उसकी प्रकृति सर्वोच्च गुणों का संचय नहीं है, वरन् अनेक प्रकार की शक्तियों, विचारों, व्यसनों और स्वभावों तथा कार्यों की खिचड़ी है। यह बात विचार से बहिर्गत है कि जो मनुष्य अपने अप्रत्यक्ष जीवन में प्रतिष्ठा नहीं पाता वह सार्वजनिक जीवन में प्रतिष्ठित बन सकता है, क्योंकि प्रकृति ऐसी अस्वाभाविकता को सहन नहीं कर सकती। हम लोग ऐसे मनुष्य को, जो आचरणहीन है, प्रतिष्ठा का पात्र नहीं समझते। हम अपने बालकों को, ऐसा समझकर कि यह नेता है, नमस्कार करने अथवा उसके चरणों में बैठने की सम्मति नहीं दे सकते। हमारा प्रयत्न होगा कि हम भावी सन्तानों को उससे दूर रक्खें क्योंकि वह दुष्ट, कुटिल और झूठा है। साधारण जीवन चालाकी और तीव्रता के प्रधान अंशों में मनुष्य के उद्गार तथा विचारों की ज्योति है। किसी समाज या समिति की भाँति वे उद्गार और विचार, मानसिक और राजनैतिक बातों का निर्माण करते हैं। मनुष्य के लिए भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न विचारों और उद्गारों का रखना असम्भव है। इस प्रकार का मनुष्य अभिनेता या

नक्काल बन सकता है, किन्तु वह युवकों का पथप्रदर्शक अथवा समाज-सुधारक नहीं बन सकता।

अप्रत्यक्ष आचरण में विचारों का होना अथवा आत्मसंयम दोषों की स्थिति—समाज के उत्तरदायित्व की कमी प्रकट करती है, क्योंकि अप्रत्यक्ष अपराध समाज के प्रति पाप हैं। वे सामाजिक नीति को बड़ी भारी हानि पहुँचाते हैं। वे पाप हमारे पड़ोसी को बड़ा भारी धक्का पहुंचाते हैं। फिर भला, वह मनुष्य जिसके हृदय में सामाजिक जिम्मेदारी का पूरा ज्ञान नहीं, किस प्रकार से नवयुवकों को राजनीति सिखाने का भार अपने ऊपर ले सकता है? राजनीतिज्ञ महापुरुष लाखों आत्माओं की शुभ-चिन्तना में निमग्न रहता है, उसके ऊपर उन सन्तानों की भलाई का भी भार रहता है जिनका अभी इस संसार में प्रादुर्भाव नहीं हुआ। इस दशा में हम लोग राष्ट्रीय आन्दोलन का सूत्र ऐसे मनुष्य के हाथ में, जो सामाजिक जिम्मेदारियों से पूर्णतया अनभिज्ञ है, किस प्रकार दे सकते हैं? क्योंकि इसी पर समाज का ह्रास और जाति का पतन निर्भर है।

जब कोई राष्ट्र पतितावस्था से दुर्बल और क्षीण शक्तियों से निवृत्त होकर अज्ञानान्धकार को दूर कर—शारीरिक, मानसिक और नैतिक शक्तियों से सुसज्जित होकर आलोकपूर्ण स्थल में प्रवेश करता है तब उसके मनुष्य बदल जाते हैं। वे नवीन सत्यता को समझने लगते हैं, वे शुद्ध लक्ष्य और विचारों की ओर अभिमुख होते हैं। उस जाति का हृदय पवित्र और उच्च जीवन को प्रदर्शित करता है। समस्त मानव समुदाय चैतन्यता के उच्च शिखर पर चढ़ जाता है। ऐसा कभी नहीं विश्वास किया जा सकता कि उसके जीवन के केवल एक भाग का, जो राज-नैतिक बातों को सूचित करता है, सुधार हुआ है। यह बात प्रकृति के विरुद्ध है। जब हम कहते हैं कि अमुक जाति का

पतन हो गया, तो हमारे कहने का भाव यह है कि जिन मनुष्यों से उसका सङ्गठन हुआ है वे स्वार्थी, भीरु और मूर्ख हैं। उन्नतिशील राष्ट्र में आगामी सन्तानें फिर नये सांचे में ढलती हैं—मुमूर्ष हृदयों में पुनर्जीवन का सञ्चार होता है क्षीण हृदयों में नूतन शक्ति प्रस्फुटित हो उठती हैं, उन हाथों में, जिनमें निर्बल और पतितों के उद्धार करने की शक्ति का ह्रास हो गया है फिर से नवीन पौरुष की ज्योति जगमगा उठती है और सामाजिक कार्यों की शक्ति फिर से आविर्भूत होती है। इसके विपरीत जो राष्ट्र अपने गृह जीवन में भ्रष्ट होकर व्यवसाय और राजनीति में श्रेष्ठ बनना चाहे, वस्तुतः जो मनुष्य आपस के कामों में एक दूसरे को धोका देकर फिर भी सार्वजनिक कार्यों में सचाई और निर्भीकता पूर्वक काम करने का प्रयत्न करे, उसकी चेष्टा सफल नहीं हो सकती।

केवल राजनैतिक वादविवाद अथवा राजनैतिक सूत्र किसी राष्ट्र का उत्थान नहीं कर सकता, क्योंकि राजनीति सिर्फ राष्ट्रीय जीवन का अंश है। राजनैतिक दांव पच मनुष्य को पवित्र, सच्चा या उदार नहीं बना सकते, वे केवल जातीय इच्छा को सूचित करते हैं। वह इच्छा, अन्य शक्तियों—जैसे व्यापार, धर्म, शारीरिक विकाश आदि—के सांचे में ढली हुई है। राजनैतिक कार्य जीवन-रूपी वृक्ष का फल है और सदाचार उसकी जड़ है। राजनैतिक कार्य जाति को सदाचार के महान् आदर्श की ओर ले जाने के लिए हमें बाध्य करता है, किन्तु वह नैतिक शक्ति अनेक भिन्न शक्तियों का समूह है। राजनैतिक विचारों का प्रसार सामाजिक तत्वों के शक्तिशाली एवं स्वस्थ होने का चिन्ह है, परन्तु यह ध्यान रखने की बात है कि कार्य सदा कारण की स्थिति में नहीं रहता। राष्ट्रीय जीवन का स्रोत धर्म और विश्वास के स्रोत से विस्मृत किया जाता है. राजनैतिक

उन्नति जल का केवल ऊपरी भाग है जो उसकी सतह पर लहराता हुआ झरने के बड़प्पन को दिखलाता है। राजनीति स्वयम्भूत शक्ति नहीं। राजनीति आचार-नीति पर निर्भर रहती है, और आचार-नीति की निपुणताएं राष्ट्रीय जीवन की अन्य शाखाओं पर फैली हुई हैं। गृह-आनन्द राजनैतिक शक्ति का एक अत्यन्त आवश्यकीय पदार्थ है। जिस जाति का गार्हस्थ्य-धर्म नष्ट हो गया है, वह संसार में कभी उच्चपद की अधिकारिणी नहीं हो सकती। झूँठी, निन्दक तथा कुटिल जाति संसार की जातियों में उच्च स्थान कदापि नहीं पा सकती। आचार नीति ही जाति की आत्मा है, व्यवसाय, राजनीति साहित्य और गृह-जीवन उसके अङ्ग हैं। आचार नीति राजनैतिक अङ्ग के संयुक्त विचारों को अनेक प्रकार से प्रकट करने की एकता एवं स्थिरता प्रदान करती है। यदि हम आचारहीन राजनीति का अवलम्बन करेंगे तो हमारी दशा ठीक उसी कुत्ते की भांति होगी, जो जल में अपने ही मुँह के ग्रास का प्रतिबिम्ब देख कर उससे भी वंचित हुआ। आचारहीन राजनीति खाली घड़े के समान है, और वे राजनीतिज्ञ, जिनकी जीवन-परिचर्या अपवित्र और कठोर है, केवल अगाते घड़े के तुल्य हैं। राजनीति राष्ट्रीय कार्य का एक भाग है परन्तु आचारनीति उसका पूरा अंश है। तब ऐसा कौनसा मनुष्य है जो सारी छोड़ आधी के लिये दौड़ेगा? और यदि है भी, तो वह बड़ा भारी मूर्ख और निबुद्धि है।

जीवन की प्रत्येक अप्रत्यक्ष निर्बलता मनुष्य की इच्छा में विकार बतलाती है। दुराचारी और झूठा मनुष्य अपने दुर्व्यसनों पर अधिकार नहीं कर सकता। वह अपने नीच स्वभाव का गुलाम है। यही दशा उन लोगों की भी है जो दोष और पाप में लिप्त हैं। उनकी इच्छा उनकी कलुषित आत्मा के साथ युद्ध करने में समर्थ नहीं। तब भला, किस प्रकार एक निर्बल पुरुष

राजनैतिक बातों में विश्वासनीय हो सकता है ? राजनैतिक मैदान में दौड़ने वालों के लिए प्रबल इच्छा की अत्यन्त आवश्यकता है। क्लेश और कठिनाइयों की झड़ी और आंधी के समय हमारे कार्यकर्ताओं को चट्टान की भांति स्थिर रहना चाहिये। उन्हें अपनी उच्च प्रवृत्तियों की ओर अपनी इच्छाओं को मोड़ना चाहिये। हमारे राजनैतिक नेताओं को दृढ़, अटल, व्यवस्थित चित्त और चैतन्य होना चाहिये। उन्हें कच्चे धागे की तरह नहीं होना चाहिये जो ज़रा भी दबाव पड़ने पर खण्ड २ हो जाता है। वे अनन्त खण्ड २ हो जायं, पर झुकें नहीं। देश को ऐसे ही मनुष्यों की आवश्यकता हुआ करती है जो समस्त कार्यों में ज्यों के त्यों डटे रहें। गुलाम प्रकृति के मनुष्यों के लिये यह बात कष्ट साध्य है। इसीलिए हम कहते हैं कि जो मनुष्य आचारनीति से वंचित है, वह पवित्र एवम् महान् राजनैतिक आन्दोलन के झण्डे को वहन करने अथवा उस पर स्वत्व रखने के सर्वथा अयोग्य है। उदाहरण स्वरूप यदि वह मद्यसेवी है तो नशे के फेर में उस विश्वास का परित्याग कर सकता है जिसका भार उसके ऊपर है। यदि वह दुराचारी है तो अपने पद को एक स्त्री के लिए छोड़ सकता है। यदि वह मिथ्याभाषी है तो किसी मुख्य बात में मिथ्या भाषण कर सकता है, और इस तरह आन्दोलन को बड़ा भारी धक्का पहुंचा सकता है। कोई भी गुप्त बात उसके अन्दर गुप्त नहीं रह सकती। उसकी हानिकारक बातों का शत्रुओं द्वारा अनुकरण हो सकता है और इससे उसकी हानि हो सकती है। ऐसे आदमी का विश्वास नहीं करना चाहिये।

जिस मनुष्य का अप्रत्यक्ष जीवन पवित्र और प्रतिष्ठित नहीं, उसका प्रभाव दूसरों पर कदापि नहीं पड़ सकता। जिस भांति गङ्गाजल मोरी में पड़कर अपनी महिमा खो बैठता है, उसी

प्रकार दुराचारी मनुष्य के मुंह से निकलने पर सत्य भी अपना महत्व खो देता है। कोई भी मनुष्य, उस आदमी से—जिसको वह हीन समझता हो अथवा निर्बल बन्धु समझ कर उस पर दया करता हो सचाई का पाठ नहीं पढ़ सकता। राजनैतिक शिक्षक को, उस मनुष्य से जिसको वह शिक्षा देता हो, बहुत उच्च नैतिक स्थान पर रहना चाहिये। नैतिक स्थिति का अन्तर—जिस पर शिक्षक और शिष्य ठहरते है—शिक्षा का धर्म है। सदाचारशून्य व्यक्ति कितना ही बड़ा लेखक अथवा वक्तृत्व-शिक्त-सम्पन्न हो क्यों न हो प्रतिष्ठित एवम् विद्वान् नहीं हो सकता। उसके विचारों का प्रभाव मानव समाज पर नहीं पड़ सकता क्योंकि उसमें शिक्षक का गुण नहीं। सर्वसाधारण उस मनुष्य पर इस लिए विश्वास नहीं कर सकते कि वह नैतिक क्षेत्र में उन्हें आगे बढ़ा नहीं सकता। वह व्यक्ति उन सामान्य गुणों से भी, जो दूसरों को प्राप्त हैं, सर्वथा वञ्चित है। उसकी नैतिक बातें लोगों को झूठी और बनावटी प्रतीत होंगी, क्योंकि उसका समस्त आचरण राजनैतिक कौशल से पृथक है। लोग उस पर सन्दिग्ध दृष्टि रखते हैं। उसकी बातों पर कोई ध्यान नहीं देता। लोग उससे असंतुष्ट रहते हैं और कहते हैं कि उसमें शिक्षक बनने की योग्यता नहीं, क्योंकि वह आत्मसंयम का अभ्यास नहीं कर सकता। अस्तु, कहने का अभिप्राय यह है कि मनुष्य की अप्रत्यक्ष निर्बलता उसके राजनैतिक कामों में हानि पहुंचाने वाली है। आचरणहीन मनुष्य कारणवश कुछ काल के लिए समाज का नेता बन सकता है, परन्तु स्थायी रूप से नहीं। यदि कोई काम करना हो अथवा दूसरों के उठाने का भार अपने ऊपर लेना हो तो व्यक्ति विशेष में अच्छे आचरणों का होना उचित है। टूटा हुआ हीरा मूल्यवान नहीं होता फिर आचरण तो उससे अधिक मूल्यवान वस्तु है।

लोग हमें कट्टर धार्मिक कह सकते हैं। वे हमारी नैतिक उत्सुकता पर ठठ्ठा मार सकते हैं। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि संसार के इतिहास में जितने महान् कार्य हुए हैं, वे आत्मसंयमी, धार्मिक तथा ईश्वर से डरने वालों ही के द्वारा हुए हैं। क्रामवेल ने उन आदमियों को जो बात २ में शपथ करने वाले तथा शराबी थे अपनी सेना से निकाल बाहर किया। धार्मिकता तथा पवित्रता ही के कारण सिख जाति गौरव के उच्च शिखर पर आसीन थी। राष्ट्रीयता के लिये धार्मिक आराधना ही आभूषण है। राष्ट्रीयता को उच्च और स्नेहास्पद आचरण की सब से पहिले जरूरत है। इस वाक्य से हमारे कहने का यह मतलब नहीं है कि हमें पद २ में अनुसन्धान करना चाहिये अथवा मनुष्य जाति से घृणा करनी चाहिये, वरन् हमारा उद्देश्य यह है कि समस्त राष्ट्रीय पुरुषों को उत्सुक आत्मा की प्रेरणा करनी चाहिए, जो केवल राजनैतिक कामों में ही नहीं बल्कि प्रत्येक बात में आत्मदर्शन करता है। एक अच्छे राष्ट्रीय पुरुष को कभी निकृष्ट पिता, धूर्त-मित्र और बेईमान सौदागर नहीं बनना चाहिये। राष्ट्रीयता यदि बुरे नैतिक भावों से युक्त रहती है तो उसका अपमान होता है।

सारांश, राष्ट्र-मन्दिर में माता की सच्ची अभ्यर्थना और उपासना करने के लिए ऐसे भक्तों की आवश्यकता है जो दृढ़ चित्त, आत्मसंयमी और सदाचारी हों, जो जीवन को पवित्र समझते हों, सुतरां, आनन्दमय जीवन यात्रा करके के लिए प्रत्येक अवस्था में उद्योगरत हों।

—o—

# महात्मा कार्ल मार्क्स

संसार में एक भयानक लहर छाई हुई है। क्यों ? अत्याचारों को पैरों तले मसल डालने वाली शक्ति के निर्माण के कारण अत्याचारों को सहन करते-करते श्रमजीवीदल विकल हो उठा, उसने अत्याचारियों से बदला लेने की ठानी और उसने लिया भी। इस शक्ति को कार्य रूप में परिणित करने का श्रीगणेश रूस में हुआ और यह लहर अभी रूस ही में फैली है। इस लहर के मार्ग में बड़ी बड़ी रुकावटें तथा बड़ी बड़ी बाधाएँ पड़ती हैं। इस लहर के रोकने को धनी समुदाय अड़ा खड़ा है, तोभी यह लहर संसार में भीषणता पकड़ती आती है।

इस शक्ति की नींव डालने में हजारों योद्धाओं का बलिदान हुआ, हजारों ही वीरों ने इस शक्ति को बढ़ाने की चेष्टाएँ कर करके अत्याचार के धधकते हुए कुन्ड में अपने प्राणों की आहुति दी है और हजारों होनहार नवयुवकों ने अपने अमूल्य जीवन को इसकी नींव में खपा दिया। उन वीरों, योद्धाओं तथा महानुभावों के आदि गुरुओं में एक महात्मा कार्ल मार्क्स भी हैं।

महात्मा कार्ल मार्क्स ने निर्धनता की समस्या हल करने ही में अपना जीवन व्यतीत कर दिया। संसार में सब बुराइयों का कारण दरिद्रता है। यह दरिद्रता ही है जो सभ्यता तथा उन्नति के मार्ग पर एक ऊंचे तथा विशाल शिखर की भांति अड़ कर बाधा डालती है। निर्धनता दासत्व की जड़ है। निर्धनता के कारण ही मनुष्य के उच्च भावों का विनाश होता है। यह निर्धनता ही है जिसके कारण लाखों लुटेरे दिन-रात डाका डाला करते हैं, यह निर्धनता ही है जिसके कारण मनुष्य बड़े-बड़े पाप कर सकता है और यह निर्धनता ही है जिसके

कारण मनुष्य, मनुष्य के रक्त से हाथ रङ्गता है। यह विचार महात्मा कार्लमार्क्स के हृदय में सदा हलचल मचाए रहते थे। लोग चोरी क्यों करते हैं ? लोग लूट मार क्यों करते हैं ? और लोग आत्महत्या क्यों करते हैं ? महात्मा कार्लमार्क्स जब कभी इन कार्यों पर विचार करते थे तभी उनके आगे निर्धनता की भयानक मूर्ति नाचने लगती थी। वे प्रायः यह सोचा करते थे कि संसार धनी है। संसार में धन धान्य की कमी नहीं है। संसार उन्नति कर रहा है और प्रति-दिन निर्धनता को दूर करने के नये नये साधन निकाले जाते हैं, तो भी संसार निर्धन है। लाखों मनुष्य दिनभर काम करने पर भी भर पेट भोजन नहीं पाते हैं और वे अपने बच्चों तक को नहीं पाल सकते हैं। यह क्यों ?

महात्मा मार्क्स का हृदय सदा उनसे यह पूछा करता था, वर्तमान युरोप के लोग दरिद्र क्यों हैं ? वह सदा इन्हीं विचारों में उलझे रहते थे। वह यह देखते थे कि जो मजदूर अपना जी तोड़ कर मिलों के मालिकों के लिए काम करते हैं वे भूखों मर रहे हैं और जो किसान संसार को भर पेट खाने को अन्न देते हैं वेही स्वयम् भर पेट खाने को नहीं पाते। उनको दीनों की दशा देखकर बड़ा दुख होता था और वे हृदय की ज्वाला को केवल आंसुओं द्वारा ही शांत किया करते थे।

संसार उन्नति कर रहा है और साथ ही साथ दरिद्रता भी उन्नति के शिखर पर चढ़ती चली जाती है। भारतीय नवयुवकों का विचार है कि युरोप धनी है। युरोप और अमेरिका के सभी मनुष्य सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करते हैं। किन्तु यह विचार करना उनकी भूल है। वे युरोप और अमेरिका की असली दशा से अनभिज्ञ हैं।

बात यह है कि यूरोप धनी नहीं है वरन् उसके कुछ प्रभु धनी हैं। वे यूरोप के प्रभु हैं और श्रमजीवियों के अन्न-दाता। वे न्यायी तथा दयावान बनते हैं परन्तु हैं वे परले सिरे के निर्दयी। वे गरीब-परवर हैं, परन्तु दीनों का गला काटना उनका काम है। कैसा अन्धेर है! वे श्रमजीवी, जो कोयलों की खानों में अपने प्राणों को हाथ पर रख कर दिनरात काम करें—वैसे ही मैले कुचैले और फकीर बने रहें और कोयले की कम्पनियों के वे हिस्सेदार लखपती, लखपती से करोड़पती और करोड़पती से अरबपती होते चले जांय, जिन्होंने कि कभी खानों के दर्शन तक नहीं किये और प्रायः यह तक नहीं जानते कि खानें हैं कहाँ? जहां युरोप के वे प्रभु, जो अपना जीवन राजाओं की भांति व्यतीत करते हैं, जलवायु परिवर्तन के लिए संसार के छोर तक जाते हैं—वहां लाखों श्रमजीवी गन्दी हवा के कारण अपने प्राण तक विसर्जन कर देते हैं। क्या कोई इसका उत्तर दे सकता है कि जब कि समुद्र से मोती निकालने वाले अपनी जान पर खेल कर मोती निकालते हैं तो वे क्यों सदा निर्धन ही बने रहते हैं? और वे सौदागर, जिन्होंने मोती निकालना तो दूर रहा मोती निकालने वालों के दर्शन तक नहीं किये, उन्हीं मोतियों को बम्बई तथा कलकत्ता में बेचकर क्यों धनी हो जाते हैं? संसार के काहिल से काहिल मनुष्य क्यों धनी हैं और वह कुली जो सारा दिन बैल की भांति काम करता है क्यों भूखों मरता है? क्या कोई इसका उत्तर दे सकता है? क्या कोई बता सकता है कि वे किसान जो दिन रात कड़ी से कड़ी धूप में और कड़ी से कड़ी शीत में अपना रक्त पानी बनाकर, अन्न उत्पन्न करके, संसार को जीवन दान देते हैं क्यों भूखों मरकर भी कर्ज की बेड़ियों में कसते चले जाते हैं। और वे सूदखोरे महाजन, जो दिन भर पैर फैलाके दीनों के काल रूपी बही-खाते भरा करते हैं क्यों

धनी हो जाते हैं ? कैसा अन्याय है ! महात्मा मार्क्स का हृदय इन बातों को देखकर सदा जला करता था और उन्होंने इन बुराइयों को दूर करने ही में अपना जीवन बलिदान कर दिया।

महात्मा मार्क्स का जन्म ५ मई सन् १८१८ ई०, को जर्मनी के ट्रीव्स नामक नगर में हुआ था। उनके पिता वकील थे और अपनी यौवनावस्था में यहूदी से ईसाई हो गये थे। महात्मा मार्क्स अपने भाइयों में सब से चतुर थे और उनके पिता को उनसे बड़ी आशा थी। प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त करके मार्क्स ने बर्लिन के विश्व-विद्यालयों में फिलासफी और नीति शास्त्र पढ़ने को प्रवेश किया। मार्क्स को बाल्यावस्था से ही कविता से बड़ा प्रेम था तथा उसने उपन्यास लिखना भी आरम्भ कर दिया था। परन्तु उसको शीघ्र ही पता लग गया कि उसको कविता तथा उपन्यासों से कुछ लाभ न होगा। उसका ध्यान शीघ्र ही फिलासफी की ओर आकर्षित हुआ और वह दार्शनिक-प्रवर हीगेल को अपना आराध्य-देव समझने लगा और सिद्धांतवादी बन बैठा।

किन्तु उसकी यह सिद्धांत-वादिता उसके पिता को अच्छी न लगी, जैसा कि उसके एक पत्र से साफ साफ प्रकट होता है जिसको उसने महात्मा मार्क्स को संसार में धन को मुख्य बतलाते हुए लिखा था:—

"विविधि प्रकार के दार्शनिक विषयों पर समय व्यतीत करना सरासर मूर्खता है। चिराग की रोशनी में बैठ कर व्यर्थ मस्तिष्क बरबाद न करो! विद्या के पीछे पागल न हो जाओ! मैं तुम्हारे विचारों से अनभिज्ञ हूँ और उस विषय पर तुम अब भी चुप बैठे हो। मेरा आशय उस सोने (धन) से है जिसका कि मूल्य एक गृहस्थ के लिए जितना है उतना तुम नहीं समझते हो।"

पर कार्ल मार्क्स पर इन बातों का प्रभाव कुछ भी न पड़ा। वह सदा अपने कर्तव्य-पथ पर दृढ़ रहा। उसने रुपये पैसे की कभी परवा नहीं की। उसने दृढ़ निश्चय कर लिया कि मैं धन तथा धनिकों से कुछ भी वास्ता न रखूंगा और अपना समस्त जीवन निर्धनता में व्यतीत करूंगा। पाठक स्वयम् ही अनुमान कर सकते हैं कि उसके माता-पिता को इन बातों के पता लगने पर कितना कष्ट हुआ होगा। उनकी सारी अभिलाषायें मिट्टी में मिल गईं। उनको आशा थी कि उनका पुत्र पढ़ लिखकर कमाएगा और धनी बनकर उनको सुखी करेगा। किन्तु उनकी यह आशा केवल आशा मात्र ही रही। उन्हें स्वप्न में भी यह ध्यान न था कि कार्ल मार्क्स देश निकाले तथा दरिद्रता में जीवन व्यतीत करेगा।

सन् १८४२ में कार्ल मार्क्स ने विश्व-विद्यालय की शिक्षा समाप्त करके जेनी नाम की एक सुन्दरी से ब्याह किया जो उसकी बाल्यकाल की मित्र थी। उसका कार्ल मार्क्स से ब्याह करना सरासर अपने को कष्ट पहुँचाना था। क्योंकि वह एक धनी घराने की थी और कार्ल मार्क्स एक निर्धन मनुष्य था। परन्तु जेनी बड़ी पतिव्रता स्त्री थी। वह सदा मार्क्स के दुःखों में हाथ बटाती रही। जेनी भी कार्ल मार्क्स की भांति एक वीर रमणी थी और वास्तव में वही कार्ल मार्क्स को देश निकाले और दरिद्रता के समय धैर्य्य देती रही। वह वीर रमणी भी कार्ल मार्क्स की भाँति सदा श्रमजीवियों की शोकजनक अवस्था पर खेद किया करती थी और इन्हीं बुराइयों को दूर करने में उसने अपने दो बच्चे बड़ी धीरता-पूर्वक बलिदान कर दिये।

इसके पश्चात कार्ल मार्क्स ने जीवन-निर्वाह के लिये सम्पाद-कीय विभाग में पैर रक्खा और राजनैतिक विचारों को लेकर

उसने एक पत्र निकालना आरम्भ कर दिया। उन दिनों जर्मनी की शासन प्रणाली बड़ी ही नीच और जघन्य थी। जर्मनी के शासन की बागडोर एक अन्यायी तथा स्वेच्छाचारी राज-तन्त्र सरकार के हाथ में थी, जिसके कि मुखिया प्रशिया के बादशाह थे। जर्मनी के बड़े बड़े नेता इस शासन-प्रणाली को जड़ से उखाड़ देने की तैयारियाँ कर रहे थे। कार्ल मार्क्स ने भी अपने उग्र विचारों को अपने पत्र 'रेनिश गजट' Rhenish Zeitung में प्रकट करके इस आन्दोलन में भाग लिया। उसके इन राज-विप्लववादी खुल्लमखुल्ला विचारों ने पुलिस का ध्यान शीघ्र ही आकर्षित किया। फल यह हुआ कि पत्र सन् १८४३ में बन्द कर दिया गया। मार्क्स ने पत्र जब्त होने के बाद अपने सह-योगी रयूज को लिखा—"राजतन्त्र का पूरा पंजा प्रजा-तन्त्र पर पड़ चुका है और अब राजतन्त्र अपना शिर उठाए संसार के सम्मुख सगर्व खड़ा है।" इस पर रयूज ने उत्तर दिया "जर्मनी के अखबार अधिकारियों तथा स्वयम् सम्राट के दबाये नहीं दब सकते हैं। यदि अखबारी संसार को प्रजातन्त्र फैलाना है और राजतन्त्र से लड़ना ही है तो वह जर्मनी के बाहर से अपना उद्देश्य सिद्ध कर सकता है।"

मार्क्स को उन फ्रेंच लेखकों के ऊपर बड़ी श्रद्धा हो गयी थी जो संसार को प्रजा-तन्त्र की शिक्षा देते थे और जो कहते थे कि प्रजातन्त्र ही संसार के श्रमजीवी दल की दरिद्रता दूर करने का एक मात्र उपाय है। उसका जी सूखे विप्लववादी विचारों से उलट गया क्योंकि उसमें मजदूरों तथा किसान की दरिद्रता दूर करने का कोई भी साधन न था। उसने फ्रान्स के प्रजातंत्र-वादी दल के मन्तव्यों को पढ़ने और समझने की ठानी। इसी कारण उसने स्वतन्त्र विचार वाले मनुष्यों के अड्डे, पेरिस में

जाने का विचार किया। पेरिस पहुंचने पर उसके जीवन का नया युग आरम्भ हुआ।

वहां वह 'वरबार्ट' नामक एक विप्लववादी पत्र का सम्पादन करने लगा जो जर्मनी की नीति का सदा खंडन किया करता था। यह देखकर प्रशियन सरकार को फ्रान्स की सरकार से उस पत्र को बन्द कर देने की प्रार्थना करनी पड़ी! अन्यायी सरकारें एक दूसरों के साथ सदा गहिरा सम्बन्ध रखती हैं। फ्रान्स भी उन दिनों एक अन्यायी सरकार के शासन में था। अतः 'वरबार्ट' बन्द कर दिया गया और सन १८४५ में फ्रान्स के प्रधानमन्त्री मिस्टर गुइजो ने मार्क्स को फ्रान्स से निकाल बाहर किया। मार्क्स ने अपनी स्त्री तथा बच्चों को साथ लेकर बेलजियम की शरण ली। वह वहां दूसरे जर्मनों से मिला जो कि उसकी भांति देश-निकाले का दुःख भोग रहे थे। तत्पश्चात् उसने बेलजियम देश के ब्रुसेल्स नगर में एक जर्मन श्रमजीवी सभा खोली और वह विप्लववादी पत्र 'ड्यूच ब्रुसेलर जीटंग' का सम्पादन भी करने लगा। उसने वहां पर श्रमजीवियों को साम्यवाद की शिक्षा देना आरम्भ कर दिया। वह फ्रान्स तथा जर्मनी के बड़े बड़े प्रजातन्त्रवादी नेताओं से लिखा पढ़ी भी करने लगा। धीरे धीरे उसने ब्रुसेल्स में अच्छा प्रभाव जमा लिया। उसने अपनी सभा का सम्बन्ध इंगलैण्ड के जर्मन प्रजा-तन्त्र-वादी दल से जोड़ लिया और अन्त में उसने एक प्रजा-तन्त्र-वादी दल स्थापित किया जिसने एक घोषणा निकाली जो आजतक कम्यूनियन मेनीफेस्टो ( Communion Manifesto ) के नाम से प्रसिद्ध है।

कम्यूनियन मेनीफेस्टो २४ फरवरी, सन् १८४८ ई०, को प्रकाशित हुआ और इसी दिन फ्रांस में प्रजातन्त्र की घोषणा भी हो गयी। यह देख कर सारा संसार कांप उठा। फ्रांस के

बादशाह लुई फिलिप पेरिस छोड़ कर भाग गये और राज-मन्त्री मिस्टर गुइजो को भी, जिन्होंने सन् १८४५ में मार्क्स को देश से निकाल बाहर किया था, फ्रांस छोड़ कर विदेशी राज्यों की शरण लेनी पड़ी। फ्रान्स में प्रजातन्त्र राज्य स्थापित हो गया।

इन्हीं दिनों जर्मनी की सरकार बेलजियम सरकार पर मार्क्स को अपने यहाँ से निकाल देने के लिये बड़ा ज़ोर डाल रही थी। इधर मार्क्स के कारण बेलजियम देश के श्रमजीवियों में भी प्रजातन्त्र के भाव फैल रहे थे। इसलिए मार्क्स को एक दम बेलजियम छोड़ देने की आज्ञा मिली।

फ्रान्स में प्रजातन्त्र राज्य स्थापित हो चुका था और फ्रांस के लिये उसका मार्ग खुला पड़ा था। फ्रान्सीसी सरकार ने मार्क्स से फ्रान्स लौट आने की प्रार्थना की, जहां एक दिन अत्याचारी सरकार द्वारा उसका सर्वस्व हरण कर लिया गया था। फ्रान्स की सरकार ने मार्क्स को विश्वास दिलाया कि प्रजा उसका हार्दिक स्वागत करेगी। मार्क्स ने प्रार्थना स्वीकार करली। उसने एक बार फ्रान्स में फिर प्रवेश किया और वहाँ कुछ दिन रहने के बाद वह जर्मनी लौटा। जर्मनी आने पर उसने फिर अपना पुराना राग छेड़ा और न्यू रेनिश गजट ( Neue-Rhenish Zeitung ) नामक एक पत्र निकालने लगा। उसकी पहली संख्या, १ ली जून, सन् १८४८, को निकली; जिसमें कि उसके मित्र इंजिल्स ने 'पेरिस में कुछ दिन' नामक लेख लिखा। इस लेख में उसने एक स्थान पर लिखा:—

"प्रजातन्त्र स्थापित होजाने के बाद मार्च और अप्रैल मास में मुझे पेरिस के फिर दर्शन हुए। मजदूर लोग दिन में सूखी रोटियाँ और आलू खा खाकर जीवन निर्वाह करते थे और रात को वृक्षों की छाया में बैठ कर स्वतन्त्रता की बेल सींचा

करते थे, गोले बारूद तैयार करते थे और युद्ध के गीत गाया करते थे। परन्तु पेरिस के बड़े बड़े धनी व्यापारी घर में छिपे हुए जनता को अपनी ओर से नम्र बनाने को चेष्टा किया करते थे।"

सन् १८४८ की ग्रीष्म ऋतु में कोलोन में प्रजातन्त्रवादियों की एक कांग्रेस हुई; जिसमें मार्क्स ने बड़ा भाग लिया। एलवर्ट ब्रिसवन नामक एक अमेरिकन साम्यवादी ने भी उस कांग्रेस में भाग लिया था। वह कांग्रेस के समय मार्क्स से मिला था। कुछ दिन बाद उसने उसके सम्बन्ध में कहा था:—

"मैं कांग्रेस में साम्यवादी नेता कार्ल मार्क्स से मिला। मार्क्स के मजदूर और पूँजी (Labour and Capial) नामक लेख ने उस समय युरोप भर में साम्यवाद की लहर फैलादी थी। वह उन दिनों उन्नति कर रहा था और एक तीस वर्ष का नाटा तथा आरोग्य नवयुवक था। उसके विचार उच्च थे और उसके मुख पर स्वाभिमान की आभा झलकती थी। मार्क्स को पूँजी से घृणा होगई थी। वह उसके नीच लक्ष्यों पर जलता था और वह मजदूर दल पर उसके प्रभाव को देखकर दुखी होता था। मुझे याद है कि जब उसने प्रचलित राजनीति के विरुद्ध पहिले पहिल कुछ शब्द कहे थे तब मुझे वे बिलकुल गलत मालूम हुए थे। मैंने भी यह विचार न किया था कि उसके सिद्धान्त एक दिन संसार को हिला देंगे।"

जर्मनी का हाथ मार्क्स पर अधिक दिनों तक न रुक सका। ७ फ़रवरी सन् १८४९ को मार्क्स और उसके दूसरे साथियों पर कुछ कान्स्टेबिलों और एक जल्लाद के सरकारी काम में हस्तक्षेप करने के अपराध में अभियोग चला। मार्क्स ने अपनी सफाई में एक घंटे तक वक्तृता दी और उसके बयानों

से जनता में चारों ओर बड़ी सनसनी फैलगयी। उसकी वक्तृता का कुछ अंश नीचे दिया जाता है—

"केवल जर्मनी ही की अवस्था ने नहीं, वरन प्रशियन सरकार की कार्रवाइयों ने भी, हम लोगों के ऊपर यह भार सौंप दिया है कि हम लोग सरकार के हर एक काम पर निगाह रक्खें और सरकार के ज़रा ज़रा से अनुचित कामों पर भी हस्तक्षेप करें और उनकी सूचना प्रजा को दे दें। जुलाई के मास में हम लोगों को प्रजा को यह बतलाना पड़ा कितनी निरपराध मनुष्य बन्दी किये गये हैं। अखबारों का यह कर्तव्य है कि वे निरपराधियों की ओर से लड़ें और उनके झगड़ों को तै करें। महाशयो! दासता के किले की नींव इस राजनीति पर निर्भर है जिसका प्रभाव मनुष्य के जीवन पर भी पड़ता है। केवल बड़ी बड़ी शक्तियों के लड़ना ही काफी नहीं है। पत्रों को छोटे-छोटे अत्याचारी कर्मचारियों का भी सामना करना चाहिये। मार्च के विप्लव को किसने उकसाया और उसका क्या परिणाम हुआ? उसने केवल ऊंची श्रेणी ही का सुधार किया। किन्तु उससे श्रमजीवियों को कुछ लाभ न हुआ। पत्रों का पहिला कर्तव्य यह है कि वे प्रजा के सन्मुख आजकल की राजनैतिक दशा को सुलझा कर रखदें।"

मार्क्स और उसके साथी जूरी द्वारा निरपराधी साबित हुए, इस कारण मजबूरन छोड़ दिये गये। किन्तु दो ही दिन बाद ९ फरवरी को मार्क्स और उसके साथियों पर फिर राज्य के विरुद्ध लोगों को भड़काने के अपराध पर अभियोग चला। अबकी मामला वैद्य था। किन्तु मार्क्स ने फिर एक ओजस्विनी वक्तृता दी। जूरी ने अबकी बार फिर मार्क्स और उसके साथियों को निर्दोष सिद्ध किया और उसने अपने एक सभासद को भी मार्क्स को उसकी ओजस्विनी वक्तृताओं के लिये धन्य-

वाद देने को भेजा। मई सन् १८४९ में ड्रेसडन और दूसरे राइन प्रान्तों में विप्लव के लक्षण दिखाई देने लगे। अब की बार प्रशियन सरकार ने आंखें खोली और मार्क्स को देश निकाले की आज्ञा मिली। केवल यही नहीं किन्तु राजाज्ञा से उसका प्रेस भी जप्त कर लिया गया। पत्र का अन्तिम परचा १९ मई को लाल स्याही से छपा हुआ और 'विदा' नामक एक हृदय हिला देने वाली कविता के साथ निकला।

मार्क्स को फिर अपनी मातृभूमि छोड़नी पड़ी और उसने पेरिस की शरण ली। वहां उस पर जो कुछ बीती वह उसकी स्त्री की डायरी से भली भांति प्रगट होता है। उसकी डायरी का एक भाग यह है—"हम पेरिस में एक मास रहे। किन्तु यहां पर भी हम अभागों को रहने का स्थान न मिला। एक सुन्दर प्रभात के समय जब हम लोग बैठे थे हमें यह फरमान मिला—'कार्ल अपनी स्त्री के साथ २४ घंटे में पेरिस छोड़दे।' मैंने फिर अपना थोड़ासा सामान लेकर लंदन में शरण लेने की तैयारी करदी। कार्ल ने हम लोगों के पहिले ही सब तैयारी करली थी।"

मार्क्स जून के अन्तिम सप्ताह में लन्दन पहुँचा। और जुलाई में उसके दूसरे पुत्र हेनरी ने जन्म लिया। मार्क्स के जीवन चरित्र लिखने वाले मिस्टर स्पार्गो का कथन है:—

"जन्म से लेकर मृत्यु तक उसका जीवन दरिद्रता में व्यतीत हुआ, उसी दरिद्रता में, जो हजारों निर्बोध बालकों की मृत्यु का कारण होती है।" नवजात पुत्र हेनरी की मृत्यु सन् १८५२ के आरम्भ में होगई। मिस्टर स्पार्गो ने ठीक कहा है—

"यह पहिला ही अवसर था जब कि मृत्यु ने उस दरिद्र परिवार पर कोप-दृष्टि डाली। उसका पंजा बालक के माता पिता को अधिक कष्टदायक हुआ क्योंकि उनको यह भली

भांति मालूम था कि उस बच्चे को, जो उनके रक्त से उत्पन्न हुआ था, केवल दरिद्रता के कारण ही मरना पड़ा।"

अभागा परिवार दरिद्रता के शिखर पर चढ़ रहा था। नहीं, नहीं, वह नष्ट होरहा था। उसे प्रायः सूखी रोटियों पर ही निर्वाह करना पड़ता था और बाज़ दफ़े मार्क्स को आधा पेट रहकर भी अपने बच्चों का उदर भरना पड़ता था। इस अवस्था में भी, भूख से व्याकुल तथा शीत से ठिठुरते हुए, वह लंदन के बड़े बड़े पुस्तकालयों में जाकर विविध विषयों का अध्ययन किया करता था। वह लेख लिखता था। किन्तु उसके लेखों का मूल्य बहुत कम मिलता था। कितनी शोचनीय अवस्था थी! एक बार उसने एक रेलवे क्लर्क की जगह के लिये एक प्रार्थना-पत्र दिया किन्तु वह उसके बुरे लिखने के कारण अस्वीकार कर दिया गया। जर्मनी के एक बड़े नेता के लिये क्लर्क होने में भी इतनी बाधायें!

इतनी बाधायें! इतने कष्ट!! और इतना अपमान!! किन्तु मार्क्स ने कार्य-क्षेत्र से पैर नहीं हटाया। वह न्यूयार्क ट्रिब्यून New York Tribune की लंदन की शाखा में लिखा पढ़ी करने के लिये एक पौण्ड प्रति सप्ताह वेतन पर नियुक्त होगया। यही थोड़ा सा वेतन उसका आधार था और महीनों तक यह अभागा परिवार इसी वेतन पर निर्वाह करता रहा। सारा परिवार केवल दो कमरों में जीवन व्यतीत करता था। उन कमरों में एक तो सोने का था और दूसरा रसोई घर का काम देता था। उसके बड़े बड़े मिलने वाले, जो उससे किसी विषय में राय लेने आते थे, उन्हीं कमरों में मिला करते थे।

उसका जीवन लण्डन में बड़ा हृदय-विदारक होगया था। हम श्रीमती मार्क्स के एक पत्र का कुछ अंश नीचे देते हैं जो उन्होंने अपनी दशा बताते हुए लिखा था:—

"क्या कोई कह सकता है कि हमने वर्षों जो काम किये उनका कभी वर्णन भी किया ? हमारी घरेलू कठिनाइयों तथा दुखों का वर्णन भी किया गया ? 'न्यूरेनिश गजट' की राजनैतिक सत्ता तथा अपने मित्रों का मान रखने के लिये उसने (मार्क्स ने) सारा भार अपने ऊपर उठा लिया। उसने सारी सम्पत्ति छोड़ दी और चलते समय उसने सम्पादकों का वेतन तथा और प्रकार के बिलों का भुगतान अपने पास से किया था। वह जबरदस्ती देश से निकाल बाहर किया गया। तुम जानते हो कि मैं अपने लिये कुछ भी न बचा सकी। मैं फ्रैंकफोर्ट अपना अन्तिम चाँदी का गहना गिरों रखने गई। और सारा असबाब मैं कलोन में बेच चुकी थी। तुम लन्दन और उसकी दशा से भली भांति परिचित हो। उस पर तीन बच्चे और चौथे का जन्म! केवल किराये ही के लिये हम लोगों को ४२ ठेलर प्रति मास देने पड़ते थे। बच्चे को पालने के लिये दाई रखना असम्भव था। इसीलिए पीठ और छाती में पीड़ा होते हुए भी मैंने बच्चे को पाला। किन्तु दीन बालक! उसको दूध न मिलने के कारण अपने जीवन के पहिले ही दिन से बीमार होना पड़ा। एक दिन जब कि मैं बैठी थी एकाएक हमारी घरकी मालकिन घर में घुस आई जिसको हमने जाड़े में किराये के २५० ठेलर दे दिये थे। वह किराया मांगने लगी। हम किराया देने में असमर्थ थे। इस पर दो कान्स्टेबिल घर में घुस आये और उन्होंने मेरा असबाब, बिछौने, कपड़े, यहाँ तक कि मेरे बच्चे का पलना, तथा उस छोटी बालिका के खिलौने भी जो कि बगल में खड़ी हुई रो रही थी, सब पर अधिकार जमा लिया। उन्होंने मुझसे कहा कि दो घण्टे में हम सारी चीजें ले जायेंगे। मैं अपने ठिठुरते हुए बच्चों के साथ खुले हुये फर्श पर पड़ी रही। दूसरे दिन हम लोगों को घर के बाहर निकल जाना था। मेरा पति सारे दिन कमरे ढूँढता

रहा। यह सुन कर कि हमारे साथ चार बच्चे हैं, हम लोगों को कोई भी अपना मकान देना स्वीकार न करता था। अन्त में हम लोगों को हमारे एक मित्र ने स्थान दिया। हम लोगों ने अपना बिछौना बेंचकर डाक्टर, बावर्ची, बूचर और दूधवाले के बिलों को चुका दिया। अपना सर्वस्व बेचकर हम लोग इन सबों की कौड़ी कौड़ी चुकाने में समर्थ हो सके। मैं अपने बच्चों के साथ जर्मन होटल, लीसेस्टर स्ट्रीट, लीसेस्टर स्केयर में उठगई। किन्तु यह न समझना कि कष्टों ने हम को कर्म-क्षेत्र से हटा दिया। मैं जानती हूँ कि केवल हमी ऐसे अभागे नहीं हैं जो ऐसे कष्ट सहन कर रहे हैं। मुझे प्रसन्नता है कि मैं भी सौभाग्य-शालियों में हूँ, क्योंकि मेरे प्यारे पति हम लोगों को सहायता देने के लिये अभी भी खड़े हैं।"

सन् १८५२ की वसन्त ऋतु में इस अभागे परिवार को एक निर्बोध बालिका फ्रांसिस्का से, जिसने एक साल पहिले जन्म लिया था, हाथ धोना पड़ा। उसकी माता की डायरी का एक भाग यहाँ दिया जाता है:—

"उसी साल, सन् १८५२ के ईस्टर में हमारी अबोध बालिका फ्रान्सिसी की भी मृत्यु हुई। तीन दिन तक दीन बालिका मृत्यु से लड़ती रही। हम लोगों ने अपने तीन जीवित बच्चों के साथ पृथ्वी पर रात काटी। हमारे प्यारे बच्चे की मृत्यु हमारी दरिद्रता के सब से ऊँचे शिखर पर हुई। हमारे जर्मन मित्र हम लोगों को सहायता देने में असमर्थ हुए। अपने हृदय की ज्वाला से व्यथित होकर मैं अपने एक फ्रेंच मित्र के यहाँ गई, जिसने मेरी बात सुनते ही हम लोगों को दो पौण्ड दे दिये। इन दो पौण्डों से मैंने कफ़न इत्यादि मँगाया जिसमें कि हमारा प्यारा बच्चा आज तक विश्राम कर रहा है।"

एक या दो बार मार्क्स ने अपने बच्चों के कष्टों को न

देख सकने के कारण काम काज करने को ठानी । किन्तु पत्नी ने सदा उसे कर्म-क्षेत्र से पतित होने से बचाया । उसने सदा मार्क्स को अपने जीवन व्रत पर अटल रहने के लिए उत्साहित किया । उसने मार्क्स को इन बाधाओं से हताश न होने देने की हमेशा चेष्टा की । श्रीमती वेडमियर को ११ मार्च १८६१ को उसने एक पत्र लिखा, जिसका कुछ भाग नीचे दिया जाता है—

"लन्दन में हमारे जीवन का पहिला वर्ष बड़ा ही भयानक था। किन्तु मैं उन बातों पर आज विचार न करूँगी । हमारी क्षति ! और उन बच्चों की विदा, जिनकी मूर्ति सदा मेरे आगे नाचा करती है ! मैं किसी बात पर विचार न करूँगी । फिर 'न्यूयार्क ट्रिब्यून से हमारा वेतन आधा करदिया गया । एक बार हम लोगों को अपने खर्चे फिर कम करने पड़े और हमें ऋण के भी फन्दों में फँसना पड़ा । अब मैं अपने जीवन के सब से अन्धकार-मय भाग में आती हूँ । मेरी लड़कियाँ अपने निष्कपट तथा निश्छल वर्ताव से हमारे दुःखों को दूर किया करती हैं और सबसे छोटी लड़की मानों घर की देवी है । मुझ को २० नव० से बड़ी तेजी से बुखार चढ़ा और मैंने एक डाक्टर बुलवाया । उसने मेरी भली भाँति परीक्षा की और थोड़ी देर तक चुप रहने के पश्चात् वह एकाएक बोल उठा श्रीमतीजी ! मुझे शोक के साथ कहना पड़ता है कि आपको चेचक की बीमारी है । बच्चों को शीघ्र ही घर से बाहर हटा देना चाहिये । तुम विचार कर सकती हो कि इस समय हम लोगों की अवस्था क्या रही होगी । मैं अभी पूर्ण रूप से आरोग्य भी न हो पाई थी कि मेरे प्यारे मार्क्स पर भी ज्वर का प्रहार हुआ । किन्तु परमेश्वर को धन्यवाद है कि वह ४ सप्ताह बीमार रहने के बाद फिर उठ खड़ा हुआ । मेरी प्यारी सखी, मैं चाहती हूँ कि तुम परीक्षा के दिनों में स्थिर रह सको । संसार केवल साहसियों

के लिये है ! अपने पति की सदा सहायता करती रहो और अपने कामों में तन मन से सदा तत्पर रहो ।"

इस पत्र से हम मिसेज मार्क्स के साहस का भली भाँति अनुमान कर सकते हैं । इस गिरी अवस्था में भी वे सदा प्रसन्न मुख रहती थीं । इतने दुःख ! इतनी दरिद्रता ! और इतनी शोचनीय अवस्था ! परन्तु मार्क्स ने कभी भी अपनी राजनैतिक वक्तृताओं पर लन्दन के मजदूरों से कुछ भी लेना स्वीकार न किया । वह मजदूरों की आर्थिक अवस्था से भली भाँति परिचित था और वह उन दरिद्रों से कुछ लेना पाप समझता था । जर्मनी के मन्त्री प्रिन्स बिस्मार्क ने मार्क्स को अपना प्रभाव जर्मनी में फैलाने के लिये रिशवत देनी चाही, परन्तु मार्क्स ने अस्वीकार कर दिया । प्रिन्स बिस्मार्क ने मार्क्स के पुराने मित्र ब्यूचर को अपनी ओर मिला लिया था । उसने ८ वीं अक्टूबर सन् १८६५ को मार्क्स को एक पत्र लिखा, जिसमें उसने यह लिखा था—

'स्टेट इंटेलीजेन्सर' रुपये के भाव को प्रति मास जानना चाहता है । कृपया सूचना दीजिये कि आप इस भार को उठायेंगे या नहीं और इसका पुरस्कार क्या लेंगे ?"

मार्क्स ने पत्र पढ़ा और उस पर विचार किया । उसने सोचा कि इस प्रकार एक सरकार से वेतन पाकर काम करने से उसके अनुयायियों का विश्वास उससे उठ जायगा । वह एक सरकारी पत्र के साथ, रुपयों के बाजार का सम्वाददाता बन कर भी, सम्बन्ध नहीं रखना चाहता था । यद्यपि उसकी आर्थिक अवस्था अत्यन्त शोचनीय थी और ऋण के बोझ से उसका सारा परिवार दबा जाता था । किन्तु वह ऐसे काम करने को तैयार न था जिससे उसके उद्देश्यों में कुछ भी बाधा पड़े । इसलिए उसने इसे स्वीकार न किया और प्रिंसबिस्मार्क का मार्क्स को रिश्वत देकर मिला लेने का प्रयत्न असफल हुआ ।

सन् १८६४ में मार्क्स ने अपने साथियों के साथ एक सभा स्थापित की। उसका नाम 'इंटर नेशनल वर्किङ्ग मेन्स एसोसिएशन' रक्खा गया, जो कि योरोप में छः सात वर्षों तक खासा प्रभाव जमाए रही। यह सभा इतिहास में 'दी इंटरनेशनल' के नाम से प्रसिद्ध हुई, जिस के नाम पर ही सारा संसार आज भी मोहित हो जाता है। इस सभा की काँग्रेसें भिन्न भिन्न नगरों में होती थीं, जिनमें बड़े बड़े महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास किये जाते थे। इसका सबसे अधिक मूल्य श्रमजीवियों में एकता प्रचार करने का है, जिसका फल आज हम बोल्शेविज्म के रूप में देख रहे हैं। महात्मा मार्क्स के इन शब्दों ने—"सब देशों के श्रमजीवियो! चलो और एकता के सूत्र में बंधो" सारे यूरोप को हिला दिया। टाइम्स का कहना है—"क्रिश्चियनिटी के आरम्भ से लेकर अब तक संसार में किसी ने कभी भी इस प्रकार मजदूरों की जाग्रति नहीं देखी थी। यद्यपि इसके नेता कई सरकारों द्वारा कैद कर लिए गये तो भी इस की शक्ति दिनों दिन बढ़ती ही चली गयी। अन्त में सन् १८७०-७१ के फ्रांस और जर्मनी के युद्ध के कारण इसका प्रभाव टूट गया। क्योंकि इस युद्ध में इसके कई सभासद मृत्यु के ग्रास बन गए और कई डर गये। अन्त में यह सन् १८७६ में पूरी तरह से टूट गई।

कार्ल मार्क्स की लेखन-शैली बड़ी ही ओजस्विनी थी। उसने अपने जीवन में बहुत से लेख तथा ग्रन्थ लिखे। यों तो उसके सभी लेख और पुस्तकें बड़े मूल्य की हैं। किन्तु उसकी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक जिसके कारण उसने संसार में इतनी प्रसिद्धि प्राप्त कर ली 'डास कैपिटेल' है जो कि साम्यवाद की धर्मपुस्तक 'बाइबिल आफ़ सोशलिज्म' के नाम से प्रसिद्ध है। उसका पहिला भाग मार्क्स के सामने ही प्रकाशित हो गया था। परन्तु दूसरा तथा तीसरा भाग मार्क्स की मृत्यु के बाद उसके मित्र तथा

सहकारी फ्रेडरिक इञ्जिल द्वारा मार्क्स के नोटों के आधार पर पूर्ण किया गया। फ्रेडरिक इञ्जिल मार्क्स का सच्चा भक्त था और उसी के कारण मार्क्स को इंगलैण्ड में जीवन के पहिले भाग में छोटी छोटी कठिनाइयों में चिन्ता न करनी पड़ी।

'डास कैपिटेल' नामक पुस्तक स्वयम् ही एक शास्त्र है। मार्क्स को बड़ा दुःख था कि वह अपने जीवन में उसको समाप्त न कर सका। सन् १८८१ में मार्क्स के हृदय में अपनी स्त्री की मृत्यु का बड़ा आघात लगा। १४ मार्च, सन् १८८३, को वह भी हँसते-हँसते स्वर्गलोक को प्रस्थान कर गया। पिछले तेरह वर्षों तक वह सदा बीमारियों का शिकार बना रहा। हद से ज़ियादा काम तथा खराब भोजन ने उसका स्वास्थ्य नष्ट कर दिया था। मृत्यु के पश्चात् वह अपनी प्यारी स्त्री के पास 'हाई वे-सिमेट्री' में सदा के लिये सुला दिया गया। उसका एक शिष्य कहता है—उसकी यादगार अब भी विद्यमान है। वह पत्थरों में नहीं है वरन् वह सच्चे मनुष्यों के हृदयों में है। वह साम्यवाद का जन्म दाता है और प्रत्येक अवसर पर साम्य-वादियों की विजय उसके यश को उच्च शिखर पर चढ़ा रही है।

इस प्रकार महात्मा कार्ल मार्क्स के जीवन का अन्त हुआ और संसार के एक बड़े महात्मा की आत्मा दुःखों को सहन करते हुए अपना जीवन व्यतीत कर विश्राम करने को स्वर्ग चली गयी। सन् १८१८ से सन् १८८३ तक संसार को एक ज्योति-दान देकर महात्मा मार्क्स ने इस असार संसार को छोड़ दिया। किन्तु उसके विचारों और उसके भावों ने संसार को नहीं छोड़ा। संसार उसकी पूजा करता है और उसके भावों को हृदय में स्थान देता है। वह आज संसार में नहीं है। किन्तु उसके भाव, बोल्शेविज्म का रूप धारण कर आज संसार में हलचल मचाये हुए हैं। वह चला गया! वह श्रमजीवियों को

छोड़ गया—किन्तु उसके भावों ने उनका साथ न छोड़ा। वह धनी समुदाय से घृणा करता था, किन्तु वह उनका कुछ न कर सकता था। परन्तु उसके भावों ने धनिकों का विनाश कर दिया।

मार्क्स के जीवन की तीन समस्यायें थीं और उसने सदा इन समस्याओं को हल करने का प्रयत्न किया। उसकी पहिली समस्या यह थी कि राज-सत्तात्मक शासन-प्रणाली मनुष्यों की राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक अवस्थाओं के पतन का कारण होती है। मार्क्स ने इसे संसार के आगे रखकर पूर्ण रूप से सच्चा साबित कर दिया।

मार्क्स की दूसरी समस्या जाति-पांति सम्बन्धी झगड़ों की समस्या थी। इतिहास जाति-पांति सम्बन्धी झगड़ों से भरा पड़ा है और प्राचीन काल में जाति-पांति के झगड़े बड़े-बड़े विप्लव के कारण हुए। इन झगड़ों को दूर करना मार्क्स अपना कर्तव्य समझता था और इस कर्तव्य-पालन में उसने कसर नहीं की।

मार्क्स की तीसरी समस्या 'अधिक लाभ को सुलझाना' था। उसने देखा कि पूंजी वाले दीन मजदूरों तथा किसानों के धन से घर भरते चले जाते हैं। उनकी आय लाखों रुपये है, किन्तु वह आती कहाँ से है? जो मजदूर दिन-दिन भर काम करने पर भर पेट भोजन नहीं पाते, यह आय उन्हीं की हड्डियाँ गला-गला कर आती है।

मार्क्स पहिला मनुष्य था जिसने कि साम्यवाद के भाव मजदूरों में कूट-कूट कर भरना आरम्भ किया। उसका श्रम-जीवियों से यह कहना था—"मजदूरो और किसानो! एकता के सूत्र में बंधो। जब तक तुम एकता की जंजीर में बंधे रहोगे, तुम्हें कोई दल हानि नहीं पहुंचा सकता। तुम्हें संसार को फिर से एक बनाना है।" वर्षों बीत गये। कितनों ही ने संसार में जन्म लिया और कितनों ही ने संसार छोड़ दिया। किन्तु

महात्मा मार्क्स की यह आवाज संसार में सदा गूंजती रही। यह मार्क्स ऐसे महात्माओं के प्रयत्नों ही का फल है कि साम्यवाद की लहर आज संसार को हिलाये दे रही है।

मार्क्स ने अपना जीवन दरिद्रता में व्यतीत किया। किन्तु उसने यह अनुमान कर लिया कि उच्च विचार मैले-कुचैले तथा दरिद्र मनुष्यों के मस्तिष्क ही में वास करते हैं। उसने दरिद्रों को उच्च विचारों के बढ़ाने में सहायता दी और यह एक सबसे बड़ा काम है जो एक नेता दरिद्र-मनुष्यों के साथ कर सकता है। उसने दरिद्रों को यह कह कर कि "मैं तुम पर विश्वास करता हूँ" अपने ऊपर विश्वास करना सिखाया।

नये युग का आरम्भ हो रहा है और साथ ही साथ पुराने अत्याचारी युग का विनाश भी। किन्तु यह किनकी कृपा से? यह उन्हीं की कृपाओं का फल है जो दिन-दिन भर उपवास करके अपना जीवन व्यतीत करते थे, यह उन्हीं की कृपाओं का फल है जो अधिकारियों द्वारा बड़ी निर्दयता से जेल में ठूँस दिये गये, अथवा दण्डित हुए और यह उन्हीं के प्रयत्नों का फल है जिन्होंने कर्म्म-क्षेत्र में अपने प्राण तक बलिदान कर दिये। उन लोगों में एक महात्मा कार्ल मार्क्स भी थे। वे चले गये! संसार को एक ज्योति दिखाकर। संसार को उच्च विचारों से पूरित करके और संसार को अपने भावों से भरके वे सदा के लिये चले गये। वे संसार में नहीं है। किन्तु संसार उनके गुणों का वर्णन करता है। वे जो सुखी रह कर भी संसार को सुखी करना चाहते हैं, असफल होते हैं। किन्तु वे जो सुखों का ठुकरा कर संसार को सुखी करना चाहते हैं सफल होते हैं। यही सांसारिक नियम है। अतएव संसार का उद्धार करने के लिये उन महात्माओं की आवश्यकता है जो अपने सुखों को तिलांजलि दे सकें।

# यूरोप में शिक्षा के नए आदर्श

युद्ध के पहिले जर्मनी के शिक्षालयों में एक दोष था—बल्कि तमाम जर्मन-समाज में यह बड़ा ऐब था कि हर तरफ़ फ़ौजी तरीक़ों का व्यवहार किया जाता था। जर्मन जाति की उन्नति और एकता के लिए सैन्य-बल ही एक उपयोगी उपाय था। सन् १८७० ई० में जर्मनी ने अपनी उत्साही फ़ौज के द्वारा फ़्रांस को परास्त किया था, इसलिए जर्मनों को सेना और सैनिक शासन पर दृढ़ विश्वास था। फ़ौजी अफ़सरों की वहाँ बड़ी इज्जत होती थी और वे वर्दी पहिने हुए ही सब जगह जाते थे। फ़ौजी प्रबन्ध में नियमपालन, आज्ञाकारिता और सेवा के गुण सिखाये जाते थे, जिन पर जाति-उन्नति की नींव अवलम्बित है। परन्तु जर्मनी में इस फ़ौजी प्रवृत्ति को सीमा से अधिक महत्व दे दिया गया था। अस्तु, यह गुण वास्तव में दोष में परिवर्तित हो गया था। नियमों की अत्यधिक पाबन्दी और आज्ञाकारिता से व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का जोर कम हो जाता है और लोगों में आज्ञा के बिना काम करने की शक्ति ही नहीं रह जाती है। अगर अफ़सर गैरहाज़िर हो या कुछ गलती कर दे तो सारा काम बिगड़ जाता है। सब लोग एक मैशीन के पुर्जों की तरह हो जाते हैं। कोई अपनी बुद्धि और हिम्मत पर भरोसा नहीं रखता, नियम की भरमार हो जाती है।

जर्मनी के शिक्षालयों में भी यही दोष पाया जाता था। शिक्षकों को जरा भी आजादी न थी कि वे अपनी ओर से कुछ पढ़ा सकें, या किसी नई प्रणाली का प्रयोग कर सकें। लकीर के फ़क़ीर बन कर जाब्ते के अनुसार कार्य करना ही उनका कर्तव्य था। सारे देश के सब मदरसे इसी प्रकार से चलाये जाते थे और सारी शिक्षा निकम्मी और नीरस बन गई

थी। नियमों की रस्सी ने अध्यापकों का गला ही घोंट दिया था। इसके अतिरिक्त शिक्षालयों के अन्दर भी अध्यापकों और विद्यार्थियों का सम्बन्ध फ़ौजी आदर्श के अनुसार ही रक्खा जाता था। अध्यापक लोग विद्यार्थियों से अलग रह कर उन पर अपना रोब जमाते थे। उनके साथ मिल-जुल कर खेलना या मनोरञ्जन करना अनुचित समझा जाता था। बच्चों में डर का भाव भरा जाता था। प्रेम का कहीं नामनिशान भी न था। अध्यापक समझते थे कि वे स्वयं तो फ़ौजी अफ़सरों के दर्जे के हैं और बच्चे सिपाही हैं। अस्तु, इसी भूल से वे शिक्षालयों में फ़ौजी प्रबन्ध की नक़ल करते थे। परन्तु थोड़े से विचारशील सुधारकों ने इन दोषों के दूर करने की चेष्टा युद्ध के पहिले ही आरम्भ कर दी थी। उनका आन्दोलन एक छोटे रूप में था। परन्तु सन् १९१८ ई० में हम्बर्ग नगर के अध्यापकों ने अपनी ज़िम्मेदारी का सुधार शुरू कर दिया। क्योंकि वह क्रान्ति का युग था और हर तरफ़ गड़बड़ मची हुई थी। इन अध्यापकों ने कुछ पाठशालाओं में बच्चों को स्वतन्त्रता और प्रेम के सिद्धांतों के अनुसार कार्य करना आरम्भ किया। क्रमशः दूसरी पाठशालाओं में भी उनका अनुकरण किया गया। बच्चों को अपनी शक्तियाँ धीरे-धीरे बढ़ाने और उनका विकाश करने का अवसर देकर स्वतन्त्रता के सिद्धान्त पर इन नए शिक्षालयों की नींव रक्खी गई। उनका नाम भी 'स्वतन्त्र शिक्षालय' (फ्री स्कूल) रक्खा गया। वहाँ परीक्षा को अधिक महत्व नहीं दिया जाता, क्योंकि परीक्षाओं की ओर अधिक ध्यान रहने से उसी पुरानी प्रणाली पर चलना पड़ेगा और सिर्फ़ थोड़े से मुख्य विषयों को रोटी-पानी की तरह बच्चों को अन्दर भर देना होगा। शिक्षा का उद्देश्य केवल यही नहीं है कि बच्चे सिर्फ़ परीक्षा पास कर लें।

इसके अतिरिक्त वहाँ विद्यार्थियों की एक कमिटी भी चुनी जाती है, जो पाठशाला के प्रबन्ध में सहायता देती है। विद्यार्थियों के माता-पिता से भी नियमित रूप से परामर्श लिया जाता है। केवल अध्यापक के इच्छानुसार ही सब कार्य नहीं होता है। इन पाठशालाओं में एक मुख्याध्यापक भी कुछ काल के लिये चुन लिया जाता है। सभी अध्यापक इस चुनाव में भाग लेते हैं। इस प्रकार हेडमास्टर की पदवी भी किसी एक व्यक्ति के लिये सुरक्षित नहीं है, बल्कि उसका निर्वाचन एक प्रजातन्त्र राज्य के प्रधान के अनुसार होता है और सिर्फ कुछ वर्षों के लिए वह प्रधान अध्यापक चुना जाता है। अध्यापकों में इस तरीके से भ्रातृ-भाव बढ़ता है और प्रबन्ध में भी सरलता होती है।

इटली में भी शिक्षा-मन्त्री प्रोफेसर "जिवबानी जिएटले" ने शिक्षा के सम्बन्ध में कई आवश्यक सुधार किये हैं। यहाँ की पाठशालाओं में फ़ीस बहुत कम ली जाती थी और शिक्षा थी साधारण। बहुत सी पाठशालाओं में लड़के और लड़कियाँ साथ-साथ पढ़ते थे। शिक्षा का प्रबन्ध राज्य की ओर से किया जाता था। परन्तु अधिकतर मानसिक शिक्षा पर ज़ोर दिया जाता था, जैसे, फ्रेञ्च भाषा, इतिहास, भूगोल जन्तुविद्या, रसायनशास्त्र इत्यादि। परन्तु विद्यार्थियों को संगीत या कला का कुछ ज्ञान नहीं सिखाया जाता था। उनकी शारीरिक उन्नति के लिए खेलों और व्यायाम आदि का कोई प्रबन्ध न था। केवल पुस्तक-ज्ञान की प्रतिष्ठा की जाती थी। अध्यापकों को शिक्षा के नियमों को बदलने की आज्ञा न थी। वे सब आँखें बन्द करके पुराने मार्ग पर चले जाते थे।

इटली में दो बड़े दल हैं, एक कैथोलिक धर्म का अनुयायी और दूसरा प्रकृतिवादी नास्तिक सम्प्रदाय, इन दोनों में सदैव

लाग-डाँट बनी रहती है। प्रकृतिवादी नास्तिक को "फ्रीथिङ्कर" या "लीपरपान्सर" भी कहते हैं। प्रायः शिक्षित लोग और कारखानों के मजदूर प्रकृतिवादी दल में शामिल है। परन्तु किसान पुराने ईसाई धर्म के भक्त हैं। इन ईसाई पुजारियों का बड़ा प्रभाव है, क्योंकि वे ब्रह्मचर्यपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं और बहुत त्याग करते हैं। परन्तु ईसाई धर्म के सिद्धान्तों को अब शिक्षित लोग और मजदूर नहीं मानते। उन्होंने अपना अलग नास्तिक सम्प्रदाय बना लिया है। इटली में एक बड़ी बुराई यह भी थी कि वहाँ वकील बहुत अधिक संख्या में थे। वकालत का परीक्षा पास करके हजारों नवयुवक जूतियाँ चटखाते फिरते थे। सरकारी नौकरियों के लिए सबकी राल टपकी पड़ती थी। परन्तु इतनी नौकरियाँ हर साल खाली नहीं हो सकती थीं।

प्रोफेसर "जिएन्टले" ने बहैसियत शिक्षा-मन्त्री के बहुत सी सुविधायें जारी की हैं। उन्होंने अध्यापकों के सुधार की कोशिश की है। उनकी राय है कि नियम और सिद्धान्त बनाने से कोई लाभ न होगा, यदि अध्यापक योग्य न हो। अध्यापकों के दिलों में नैतिक बल भरना चाहिये, जिससे वे अपने पवित्र कर्तव्य से परिचित होकर अपना जीवन उसके लिये अर्पण कर दें। फिर वे स्वयं उचित उपाय निकाल सकेंगे। सरकार की ओर से बहुत से नियम-उपनियम जारी करने की आवश्यकता नहीं है। बच्चों को शिक्षा देने से अध्यापक के दिल और दिमाग की भी उन्नति होगी, क्योंकि वह इस काम में पूरी दिलचस्पी लेकर अपनी शक्तियों का विकास कर सकेगा। शिक्षा एक जीवित फलदायक कार्य-क्रम है। केवल मुर्दा नियमों की पाबन्दी कोई अर्थ नहीं रखती। अस्तु, सीखना और सिखाना साथ होगा।

इटली में अनिवार्य शिक्षा का कानून तो पहले भी प्रचलित था, लेकिन उस पर अमल नहीं किया जाता था। बहुत से

किसान और मजदूर अपने बच्चों को स्कूल में नहीं भेजते थे, परन्तु सरकारी नौकर उनके विरुद्ध कुछ कारवाई नहीं करते थे। अब इस बुराई का परित्याग किया गया है, ताकि अपढ़ लोगों की संख्या कम होती जाय। उच्च शिक्षा के लिए विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों का चुनाव किया जायगा, और आवश्यकता से अधिक विद्यार्थी नहीं लिए जाएँगे। शारीरिक व्यायाम और नैतिक शिक्षा पर अत्यधिक जोर दिया जायगा। प्रारम्भिक पाठशालाओं में धार्मिक शिक्षा फिर प्रचलित की जायगी। यदि कोई मनुष्य गैर-सरकारी स्कूल खोलना चाहे, तो उसकी आज्ञा दी जायगी कि वह नया अनुभव प्राप्त कर सके। अभी तक गैर-सरकारी स्कूलों की रोक थी। मुल्क के भिन्न-भिन्न हिस्सों के लिए उचित परिवर्तन किए जा सकेंगे, 'जिससे प्रजा को स्कूलों के काम में सहानुभूति हो। सर्व-साधारण के लिए मनोरञ्जक साहित्य तैयार किया जायगा, जिससे मदर्सों में प्रजा का भाव बढ़े। मदर्सों को जनता के दैनिक जीवन से गहरा सम्बन्ध रखना चाहिए। खेल, बागवानी, हाथ से काम करना, सङ्गीत इत्यादि के लिए समय दिया जायगा।

प्रत्येक सप्ताह ३५ घण्टों में से २४ घण्टे ऐसे उपयोगी और नैतिक लाभ दायक विषयों के लिये खर्च किए जाएँगे. विशेषतः सङ्गीत, चित्रकारी तथा अन्य कलाओं द्वारा पवित्र भावनाओं की उन्नति की जायगी। प्राचीन जातीय गीत संग्रह करके उनका उपयोग पाठशालाओं में किया जायगा। एक सभा भी स्थापित की गई है, जिसका उद्देश्य नौकरों का सुधार करना है।

धार्मिक शिक्षा में बहुत से गम्भीर सिद्धान्त नहीं सिखाए जायँगे, बल्कि ईसाई धर्म के बड़े-बड़े सिद्धान्त बताए जाएंगे, जिनसे नैतिक सुधार हो सके। युद्ध से पूर्व प्रजातन्त्र और प्रकृतिवाद का अधिक प्रभाव था।

# बीसवीं शताब्दी में धर्म

नये जगत् में जो नई परिस्थिति उत्पन्न हो गई है उसके कुछ पहलुओं पर मैं विचार करना चाहता हूँ। धर्म से मेरा मतलब उस सङ्गठित आन्दोलन से है जिसमें नैतिक आदर्शवाद का तर्क-युक्त सम्मिश्रण सांसारिक दृष्टि से हो। बौद्ध-धर्म, जरदुश्त-धर्म, यहूदी-धर्म, ईसाई-धर्म, इस्लाम, हिन्दू-धर्म, कन्फूशियन-धर्म, टो-धर्म तथा अन्य प्राचीन धर्मों को ईसा की इस बीसवीं शताब्दी में नये-नये प्रश्नों का सामना करना आवश्यक है। संसार के इतिहास में कुछ नई घटनाएँ अवश्य होती हैं, जिन पर विचार करना नये सुधारकों और नेताओं का परम कर्तव्य है। सभ्य मनुष्यों का जीवन आज उतना सरल नहीं है, जितना कि यह पिछली शताब्दियों में था। वे नई बातें क्या हैं जिनकी ओर हमारा ध्यान आकर्षित होना जरूरी है? सारे धर्म जो इन घटनाओं से टकरायेंगे, वे उसी तरह नष्ट हो जायँगे, जैसे समुद्र में बहने वाली बर्फ के पहाड़ों से टकरा कर जहाज नष्ट हो जाते हैं। ये नवीन सांसारिक शक्तियाँ टिकने के लिए आई हैं और अब कट्टरता तथा रूढ़िवाद के सिद्धान्तों का युग चला गया है। बौद्ध-धर्म तथा सारे अन्य धर्मों को इन नवीन सत्य बातों को ग्रहण करने के लिए शीघ्रता करनी चाहिए। धर्म मनुष्य के लिए बना है, मनुष्य धर्म के लिए नहीं बना है।

## १—प्राकृतिक विज्ञान

मनुष्यता के इतिहास में ऐसे अवसर बहुत देर के पश्चात् ही आये हैं, जब कि विज्ञान का अध्ययन किया गया है। मिश्र के लोगों ने कुछ किया, ग्रीस-निवासियों ने बहुत कुछ प्राप्त

किया; किन्तु पिछले ही ३०० वर्षों में सफलता और उत्साह के साथ प्राकृतिक विज्ञानों का अध्ययन किया गया है।

धर्मशास्त्र और दर्शनशास्त्रों ने उच्च विचारों के लोगों को स्वयं प्रकृति का अध्ययन करने से रोका। बहुत-से 'नबी' और धार्मिक गुरु प्राकृतिक विज्ञानों का क, ख, ग भी नहीं जानते थे। सुकरात भी विज्ञान की ओर से उदासीन था। दार्शनिकों में डिमाक्रिटीज, अरस्तू, थियोफ्रेस्टस और डेकार्टिस सरीखे केवल थोड़े से ही विद्वान् प्रयोगात्मक विज्ञान में वास्तविक दिलचस्पी रखते थे। धर्म का विज्ञान से अलग रक्खा जाना मनुष्य-समाज की उन्नति में घातक सिद्ध हुआ है। प्रत्येक स्थान पर धर्म अन्धविश्वास में परिवर्तित हो गया है, क्योंकि बहुत से महात्मा और उपदेशक, गणित, ज्योतिष, भौतिक विज्ञान, रसायन शास्त्र, भूगर्भ विद्या, वनस्पति-शास्त्र, पशु-विज्ञान और मनोविज्ञान से बिल्कुल अनभिज्ञ थे। वे लोग उच्च प्रकार की नैतिक शिक्षा तो दे सकते थे; किन्तु प्रकृति के विषय में कुछ भी नहीं जानते थे। इसी कारण एशिया में बौद्ध-भिक्षुओं ने और यूरोप में ईसाई-महन्तों ने विज्ञान से अपने को अलंकृत नहीं किया। उन्होंने परमात्मा और आत्मा के विषय में बड़े-बड़े ग्रन्थ लिख डाले; परन्तु उन्होंने मनुष्य-जाति की उन्नति को आगे बढ़ाने के लिए अपना समय विज्ञान में नहीं लगाया। बड़े से बड़े हिन्दू, बौद्ध, ईसाई और मुसलमान महात्माओं के लेखों में प्रकृति के सम्बन्ध में मूर्खतापूर्ण, लचर और बच्चों के से विचार मिलते हैं। उस खेद-जनक अवस्था पर मैं बहुधा विचार करता हूँ और अपने मनमें कहता हूँ कि 'यदि इन महा-पुरुषों ने प्राकृतिक विज्ञानों का अध्ययन किया होता तो ऐसी अनर्गल बातें न लिखी होतीं।'

विज्ञान अब प्रौढ़ावस्था को प्राप्त कर चुका है। इटली के

पुनर्जन्म (पुनर्जागृति)से विज्ञान स्थायी उन्नति कर रहा है। सारे धर्मों को विज्ञान से अपना हिसाब-किताब तय कर लेना चाहिए। अब धर्म गुरुओं और दार्शनिकों के द्वारा विज्ञान का हनन नहीं हो सकता। यदि "ईश्वर" और "जीव" विज्ञान की स्वीकृति नहीं प्राप्त कर सकते तो ईश्वर और जीव के लिए और भी अधिक बुरी बात होगी। विज्ञान इस समय बलशाली है और सारे धर्मों को उसके सामने झुकना चाहिए। बौद्धों को भी इस प्रश्न का सामना करना पड़ेगा। क्या विज्ञान स्वर्गों और नर्कों, बोधिसत्वों आदि को मान सकता है? इस प्रश्न का उत्तर अवश्य मिलना चाहिए। अपने बात करने वाले गधों, क्वारी-माताओं, फिर से जी उठने वाली लाशों और अपने आप एक से अनेक होने वाली रोटियों तथा मछलियों आदि के होते हुए ईसाई धर्म की भी बड़ी शोचनीय दशा है।

## २—जन-शिक्षा

उन्नीसवीं शताब्दी के पहले संसार के किसी भी देश में जन-शिक्षा का वृहत् और व्यापक रूप से प्रचार न था। एथेन्स में, साम्राज्यवादी रोम में, प्रारम्भिक काल के बौद्ध-भारत में और कारडोवा में, संस्कृति एक उच्च शिखर तक पहुंच गई थी; किन्तु साधारण किसानों और मजदूरों की शृङ्खलाबद्ध शिक्षा संसार के इतिहास में एक नवीन घटना है। कुछ थोड़े से सम्प्रदायों ने लोगों को लिखना-पढ़ना सिखलाने का प्रयत्न किया होगा; किन्तु साक्षरता ही शिक्षा नहीं है। अब तो प्रारम्भिक पब्लिक स्कूल मैदान में आ गया है। देवी देवताओं, अद्भुत घटनाओं और रस्म-रिवाजों का आविष्कार करके लोगों को धार्मिक विश्वास सम्बन्धी भुलावा देने की जरूरत नहीं रही है। बौद्ध और ईसाई नेताओं की भूल यह थी कि वे अपने धर्म को मूर्ख जनता की समतल भूमि पर घसीट लाये, बजाय इसके

कि वे जनता को अपने धर्म की ऊँचाई पर ले जाते; परन्तु उन्होंने जन-शिक्षा की सेवा को तो सोचा ही नहीं। बिना अच्छे विद्यालय के प्रत्येक धर्म रसातल में पहुंच कर निम्न श्रेणी के मिथ्या विश्वासों में परिवर्तित हो जायगा, क्योंकि यदि अज्ञान जनता को सच्ची संस्कृति नहीं मिल सकती तो लोगों को मिथ्या कहानियों, रस्मरिवाजों और धार्मिक मूर्खताओं ही में विश्वास करना पड़ेगा। उन्हें तो कुछ चाहिए। एशिया और यूरोप के धार्मिक नेताओं ने मध्यकाल में जान बूझ कर लोगों को झूठी बातें सिखला दीं ताकि वे उनके साथ खिलवाड़ करते रहें, और परिणाम यह हुआ कि लोग मिथ्या विश्वासों के दलदल में फँसते गये। अब प्रारम्भिक पब्लिक स्कूल हमारी सहायता के लिए आ गये हैं। हमें यह तर्क नहीं करना चाहिए कि अज्ञान और मूर्ख जनता में किसी धर्म का प्रचार करने के लिए झूठी बातों का शिक्षण करना आवश्यक है। हम जनता को सत्य के प्रकाशयुक्त शिखर पर उठा ले जा सकते हैं। उनको धर्म उपदेश देने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि अन्धकार की काली कोठरियों में प्रवेश किया जाय। जनता के साथ बालकों सा व्यवहार नहीं करना चाहिए। क्या लोगों को सदा धार्मिक खिलौनों से खेलने की जरूरत है? इस शताब्दी में कैथोलिक-चर्च, ग्रीकचर्च और भारतीय बौद्धों की दकियानूसी नीति नहीं दुहराई जा सकती।

## जन-सत्तावाद और राजनीति

सारे प्राचीन धर्मों ने राजनीति और जन-सत्तावाद की ओर ध्यान नहीं दिया। संसार भर में निरंकुशता का बोलबाला था और प्रत्येक धार्मिक उपदेशक अपने युग के अनुभव से परिणाम निकालता है। बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, कनफ्यूशियस और जोरेस्टर ने मनुष्य मात्र की नैतिक उन्नति के लिए जन-सत्तावादी

राज्य-प्रणाली की आवश्यक उपयोगिता की शिक्षा नहीं दी। साधारण सिद्धान्त के रूप में उन्होंने समता और भ्रातृभाव की शिक्षा तो दी थी; किन्तु उन्होंने इस सिद्धान्त को राजनीति से सम्बन्धित नहीं किया। चाहे उन्होंने जन-सत्ता की भावना का उपदेश भले ही दिया हो; किन्तु जन-सत्तावादी राजनीति एक भिन्न वस्तु है। मैं यह कह सकता हूँ कि कालविन और कुछ अन्य छोटे-छोटे धर्माचार्य इस सत्य को अच्छी तरह समझ गये थे। सारे के सारे धर्म उपदेशकों ने यह शिक्षा दी थी कि मनुष्य-जाति किसी राजा या रईस के राज्य में सुखी और पुण्य-रमा रह सकती है। इसके परिणाम-स्वरूप बहुत से महात्माओं और उपदेशकों ने राजनीति की बिलकुल अवहेलना की है। और हम, समता और न्याय की निरापद मामूली बातों से ही सन्तुष्ट रहे। किन्तु यदि शासन जन-सत्तावादी नहीं है तो भ्रातृ-भाव और प्रेम की चर्चा करने से क्या लाभ है? और यदि धर्म-उपदेशक दुष्ट राजाओं और अमीरों का तीव्र विरोध नहीं करते, तो वे व्यर्थ में सादगी और न्याय का उपदेश क्यों देते हैं? सहस्रों बौद्ध-महन्त मौजूद हैं; किन्तु अनेक बौद्ध देशों में भयंकर अव्यवस्था है। ये आध्यात्मिक नेता क्या कर रहे हैं?

बहुत से ईसाई और बौद्ध-नेताओं का यह विश्वास रहा है कि ईसाई और बौद्ध धर्मों को राज्य के अत्याचार और निरङ्कुशता के प्रति विरोध प्रकट करने की आवश्यकता नहीं है। वे केवल नम्रता, प्रेम, दानशीलता आदि मीठी-मीठी वैयक्तिक भलाइयों का उपदेश करते रहे हैं। ऐसे बहुरूपिया धर्म से संसार का अधिक भला नहीं हो सकता।

इसलिए वर्तमान शताब्दी में धर्म को जनसत्तावाद से मिलकर चलना होगा। इस शताब्दी में धर्म को सफलता के शिखर

पर पहुँचाने का काम 'कान्स्टेन्टाइन' और 'अशोकों' से नहीं होगा, बल्कि जनता ही उसे सफलता प्राप्त करा सकेगी। सारे धर्म जो राजाओं और अमीरों की प्रशंसा के पुल बाँधते हैं, असफल होंगे। यह इस युग की भावना है। विज्ञान की तरह जन-सत्ता-वाद भी स्थिर होकर रहने आया है। लोग उस धर्म से प्रेम नहीं कर सकते, जो उनके लिए काम नहीं करता। जन-सत्तावाद का अर्थ है बुद्ध और ईसा के उपदेशों की राजनीतिक पूर्ति, और वह धर्म-उपदेशक जो राजनीति में जन-सत्तावादी नहीं है, बिलकुल ढकोसलेबाज़ और धोखेबाज़ है।

## ४—शारीरिक व्यायाम और सुन्दरता

पुराने धर्मों ने शारीरिक व्यायाम की उपयोगिता को नहीं अनुभव किया था। ईसाइयों और बौद्धों ने सदा जीवन के सुन्दर मन्दिर अर्थात् मनुष्य शरीर का वर्णन बड़ी ठठोली के साथ किया है। बहुत से साधु दुबले-पतले और देखने में मरभुखे और आफ़त के मारे हुए से हैं। अब धर्म को सुकरात के पास पहुँचना चाहिए, जो प्रतिदिन व्यायामशाला में जाया करता था और सुन्दर स्वास्थ्य का सुख भोगता था। धर्म में हमको स्वास्थ्य और दीर्घ-जीवन के सिद्धान्तों की भी शिक्षा मिलनी चाहिए। हम शरीर से प्रेम करते हैं। हम उसको तिर-स्कार या उससे घृणा नहीं करते। हम सुन्दरता से प्रेम करते हैं, हम उससे दूर नहीं भागते हैं (जैसे कि आनन्द से कहा गया था कि सुन्दरता से दूर रहो)। धर्म को चाहिए कि हमारे लिए सुन्दरता का नवीन सुख-सन्देश दे, ताकि मनुष्य प्रकृति को कुचल कर बौना न बनाया जाय जैसा कि पिछले युगों में किया गया है। यह सब ईसाई और बौद्ध महन्तों के दूषित प्रभाव के कारण हुआ था।

हमें रोगी और दुर्बल उपदेशकों की आवश्यकता नहीं है। हमें ऐसे धार्मिक उपदेशक चाहिए जिन्हें व्यायाम और खेल-कूद से भी प्रेम हो। सेन्ट फ्रान्सिस ने शरीर को 'गधा-भाई' कहा था, हम वैसा नहीं करना चाहते। हमें बल, स्वास्थ्य और सुन्दरता में आनन्द आता है। हमें खूबसूरत पुरुषों और सुघड़ स्त्रियों की सुन्दरता से सुख प्राप्त होता है। क्या धर्म या मजहब इस भावना को उच्च और पवित्र बना सकता है? क्या वह इसे एक आध्यात्मिक शक्ति में परिवर्तित कर सकता है? अब तक तो मजहब इस प्रश्न से घबराता रहा है और शरीर की निन्दा और उपेक्षा करता रहा है; किन्तु वर्तमान युग इस मूर्खता को सहन नहीं कर सकता। धर्म को शारीरिक व्यायाम का मूल्य सीखना होगा और इस पथ के लिए उसे हमारे लिए कुछ व्यावहारिक मार्ग-प्रदर्शन करना पड़ेगा।

हमें सत्य और पूर्णता की खोज में आगे बढ़ने के लिए यह आवश्यक है कि धर्म में पहले उपर्युक्त वर्णित नवीन अंगों और शक्तियों का समावेश और आदर हो जाय। आज के शिक्षित स्त्री और पुरुष पुराने नुस्खों को स्वीकार नहीं कर सकते, जो कि नितान्त अवैज्ञानिक एक-अङ्गी और असन्तोषजनक हैं। जापानी बुद्ध-धर्म को भी अपने ढंग से इस प्रश्न को हल करना होगा। उसका इतिहास दिव्य रहा है और भविष्य और भी अधिक दिव्य होगा। महान् स्वतंत्र पुरुषार्थी सुशिक्षित जन-सत्तावादी और सत्यवादी राष्ट्र का यही धर्म हो सकता है।

---

# हिन्दुओं के भीतरी शत्रु

मेरे तरकश में बहुत से तीर हैं और उनको चलाने ही में मुझे जीवन का आनन्द प्राप्त होता है। मेरे लिए जीवन एक धर्म संग्राम है और जगत मेरा कुरुक्षेत्र है। मैं शान्ति से प्रेम नहीं

रखता हूं, बल्कि अशान्ति की आँधियों को पसन्द करता हूं। मुझे तूफान, कशमकश जङ्ग, धक्कापेल और लट्ठमलट्ठा के बगैर जीवन फीका मालूम होता है। किसी से हम लड़ें-भिड़ें, कोई हमसे लड़े-भिड़े, इसी में तो आनन्द है! सचाई भिन्न-भिन्न विचारों और आदर्शों के सङ्घर्ष से पैदा होती है। मैं महात्मा गाँधी, और टालसटॉय के इस सिद्धान्त को बिलकुल मिथ्या समझता हूँ कि अहिंसा से ही हर प्रकार की उन्नति प्राप्त हो सकती है।

गैरों पर अब तक बहुत तीर मार लिये, बहुत हाकिमों को कोस लिया और अङ्गरेजों को गालियाँ दे लीं। ऐसे मामूली तीर तो बहुत चला चुका हूँ, अब आज अपनों ही पर जरा दिल का उबाल निकालूँ।

आश्चर्य है कि अपनों के हाथों ही देश बर्बाद हुआ। यदि अपनी जाति के ही शत्रु न मिलते तो न गजनवी आ सकता, न गोरी, न अफगान, न मल्का और न डुप्ले, न क्लाइव। गैरों की शिकायत करना बेजा है, सिर्फ बहाना है और केवल मूर्खता का राग है। जिस जाति के भीतर दीमक न लगी हो, उसके किले को कोई बाहरी शत्रु फतह नहीं कर सकता। जिस प्रकार बीमारी मनुष्य के शरीर के भीतर पैदा होती है, उसी प्रकार जाति-दुर्बलता दूषित भीतरी संस्थाओं से आरम्भ होती है। दूसरों पर क्रोध उतारना मूर्खों का काम है। जरा अपने हृदय पर हाथ रख कर विचार करो, और अपनों के नष्ट-भ्रष्ट होने का दृश्य देखो—

दिल के फफोले जल उठे सीने के दाग से,
इस घर में आग लग गई घर के चिराग से!

इस समस्या को समझने के वास्ते मैं प्रायः रियासत विजयनगर का ख्याल करता हूँ, जो सन् १५६५ ई० तक दक्षिण

में मौजूद थी और जिसको तलीकोट के मैदान में मुसलमानों ने बर्बाद किया। मैं यह सोचता हूँ कि ये हिन्दू ऐसे मूर्ख और अन्धे कैसे हो गये थे कि पाँच सौ वर्ष से अधिक काल तक वे उत्तरी भारत में इस्लाम की ताक़त को बढ़ती हुई देखते रहे, परन्तु उन्होंने अपनी रियासत को मजबूत और ताकतवर बनाने का कोई यत्न नहीं किया। पंजाब पर अगर तूफ़ाने-इस्लामी एकाएक आ गया हो, तो शायद जाति के शासकों को क्षमा किया जा सकता है कि वह ईरानियों के समान इस वेग-पूर्ण बाढ़ को रोकने के योग्य सिद्ध नहीं हो सके। पंजाब को भी आन्तरिक परामर्श के लिए काफी समय मिल गया था, मगर जाति ने कोई परवाह न की। लेकिन दक्षिण को देखो कि सन् ११९३ ई० से सन् १५६५ ई० तक एक के बाद दूसरी हिन्दू-रियासतें इस्लाम का शिकार होती रहीं, जिस प्रकार वर्षा-ऋतु में कच्चे मकान गिर जाते हैं। हर तरफ से हर शताब्दी में यही खबर आती रही कि आज अमुक हिन्दू-रियासत लोप हो गई है, आज अमुक राजा तख्त से उतार दिया गया है, इत्यादि। इस अनुभव के बाद भी चार-पाँच सौ वर्ष के दीर्घकाल में विजयनगर के राजाओं, ब्राह्मणों और राज्य के शुभचिन्तकों ने यह नहीं सोचा कि इस दुर्बलता का क्या कारण है। इस खतरे से विजयनगर को किस प्रकार बचाया जाय। किन परामर्शों की आवश्यकता है। हिन्दू-रियासतों के इस आश्चर्य-जनक दुर्भाग्य के क्या कारण हैं? मालूम होता है कि रियासत विजयनगर ने कभी इन प्रश्नों पर विचार नहीं किया। वे सब हिन्दू मीठी नींद सोते रहे और इस्लाम का शेर उनको निकल गया।

प्राचीन इतिहास को तो अलग छोड़ दो, सन् १००० ई० से पहिले भी देश की आन्तरिक दशा अत्यन्त खेदजनक हो गई थी, अन्यथा महमूद गज़नवी इतनी बार हमला नहीं करे

सकता था। क्योंकि एक-दो प्रहारों के बाद ही उसका मुकाबला करना चाहिए था। लेकिन इस रियासत विजयनगर का इतिहास शिक्षाप्रद है, जब कि हम देखते हैं कि हिन्दू-रियासत ५०० वर्ष तक केवल तमाशा देखती रही है और अपनी रक्षा का कुछ प्रबन्ध नहीं करती। गैर लोग तो अन्त में, सन् १५६५ ई० में, आये थे, लेकिन इसके पूर्व ५०० वर्ष तक वे हिन्दू महाशय क्या कर रहे थे? और तलीकोट के युद्ध में इनकी हार क्यों हुई? इन्होंने मुसलमानों को मार कर क्यों न भगा दिया? अस्तु आज इस प्रश्न पर विचार करना है कि इस रियासत विजयनगर के भीतर क्या घुन लगा हुआ था, जिससे वह एक ही लड़ाई के बाद नष्ट-भ्रष्ट हो गई? वहाँ की अन्दरूनी संस्थाओं में क्या दोष था, जिसके कारण राज्य एकदम शक्तिहीन हो गया था। इस तरह से हम इस समस्या की तह में पहुँच सकते हैं।

हमारे आन्तरिक शत्रु कौन है, वे किस प्रकार हमारी जाति को नष्ट करते हैं? इस प्रश्न का उत्तर देना जरूरी है। आज मैं अपने ही को गालियाँ देता हूँ, परन्तु प्रेम की गालियाँ भी सुहालियाँ होती हैं।

यदि किसी एक दल या संस्था की जिम्मेदारियाँ प्रकट की जायें, तो बाकी तमाम जाति के लाभ के लिए यह कटु-सत्य अनिवार्य है, जैसे डाक्टर का नश्तर शरीर को चीर देता है।

प्रथम तो रियासत विजयनगर जात-पाँत के पाखण्ड से कमजोर हो गई थी। हिन्दुओं ने जात-पाँत का ऐसा आडम्बर रचा था कि इस जाल में फँस कर सारे समाज को हाथ-पाँव हिलाने की ताकत भी न रही। ब्राह्मणों के हजारों अधिकार थे, जिनका उद्देश्य सिर्फ यह था कि जनता को लूटा जाय। विद्या भी इसी जाति के हाथ में चली गई थी।

दूसरी जातियाँ विद्या और ज्ञान प्राप्त करने से विमुख की गई थीं और इसके अतिरिक्त अछूत जातियों को दीन से भी दीन समझा जाता था। उनका अस्तित्व जाति के लिए दुर्बलता का कारण था, क्योंकि इनको राज्य का सभ्य नागरिक बनाने का कुछ चेष्टा नहीं की जाती थी। वे जिस प्रकार पड़े हैं, वैसे ही पड़े रहें, यही ब्राह्मणों का उद्देश्य था। ऊँची जातियों के अन्तर्गत भी विवाह-शादी और खान-पान की रुकावटें ऐसी थीं कि एकता का विचार ही लोप हो गया था। हर एक व्यक्ति सिर्फ अपनी जाति के दायरे के भीतर ही अपना सामाजिक जीवन व्यतीत करता था। रियासत केवल एक दूर का स्वप्न मालूम होती थी।

अब तक यही हाल है कि हिन्दू भाई अपनी जातियों की सभाओं और कान्फ्रेन्सों के लिए तो खूब दिलचस्पी दिखाते हैं, परन्तु हिन्दू-सभा की ओर से बड़े उदासीन हैं। हर व्यक्ति के इष्ट-मित्र भी प्रायः उसी जाति के लोग होते हैं। विवाहादि संस्कारों के अवसर पर जाति के भाई ही बुलाये जाते हैं।

एक बार दिल्ली के म्यूनिसिपल बोर्ड की मेम्बरी की एक सीट के लिए दो महाशय खड़े हुए। एक उम्मेदवार वैश्य थे और दूसरे कायस्थ। बस फिर क्या था, इस चुनाव में यह किसी ने नहीं पूछा कि इन दोनों व्यक्तियों में कौन योग्य है, या सदुद्देश्य लेकर जाना चाहता है। बल्कि सारा चुनाव कायस्थों और बनियों के बीच एक मुकाबले का सवाल बन गया। कायस्थों ने कायस्थ के लिए वोट दिया और बनियों ने वैश्य की हिमायत की। यह खूब तमाशा हुआ। अगर किसी हिन्दू से पूछो कि तू कौन है, तो वह निर्बुद्धि तुरन्त ही यह उत्तर देगा कि मैं 'गौड़' या 'अग्रवाल' हूँ, इत्यादि। परन्तु यदि किसी मुसलमान से यही प्रश्न किया जाय, तो वह बेधड़क

कह देगा कि मैं 'मुस्लिम' हूँ। जब तक जात का ख्याल ऐसा सङ्कीर्ण बना रहेगा, तब तक हिन्दू जाति को स्वराज्य नहीं मिल सकेगा। हिन्दू नाम के सूर्य प्रकाश में यह सब छोटे टिमटिमाते दीपक अब बुझा देना चाहिए। लेकिन जब तक खान-पान और विवाह-शादी की रुकावटें क़ायम रहेंगी, तब तक लोगों के दिल का भाव नहीं बदलेगा। क्योंकि नित्य-प्रति की रीतियों और दस्तूरों से ही हमारे विचारों का प्रवाह बनता है। अब लाहौर में जात-पाँत-तोड़क-मण्डल भी स्थापित किया गया है, जिसके मेम्बर इस सुधार के लिए तैयार हैं। इस मण्डल के साथ सब देश-भक्तों का सहयोग करके जात-पाँत की जंजीरों को हमेशा के लिए तोड़ देना चाहिए, बल्कि इस मण्डल के मेम्बरों का प्रण होना चाहिए कि वे अवश्य दूसरी जातियों में विवाहादि करेंगे। अब इन चार नामों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को जाने दो। अब तो सब शूद्र ही हैं। आज कौन ब्राह्मण है और कौन क्षत्रिय है? ब्राह्मण, क्षत्रिय की पदवी तो आज अङ्गरेज़ों को मिली हुई है। इतने करोड़ कीड़ों से मकोड़े होने पर क्या किसी को घमण्ड हो सकता है? आज कोई ऊँचा नहीं और नीचा नहीं है और हमें न चार जातियों की आवश्यकता है, न दो की और न तीन की। अगर हिन्दुओं में जात-पाँत का पाखण्ड न होता तो, इतने हिन्दू कभी अपनी इच्छा से इस्लाम स्वीकार न करते। लाखों हिन्दू स्वयं खुशी-खुशी भी मुसलमान हुए थे, सदैव जबरदस्ती नहीं की गई थी। हिन्दू-धर्म और जाति में यह जात-पाँत का टण्टा ही कमज़ोरी का कारण है। इसीलिए गुरु नानक और गुरु गोविन्दसिंह जी ने इस प्राचीन व्यवस्था को मिटाने की चेष्टा की थी। इस अन्दरूनी दुश्मन को जीत कर फिर गैरों का मुकाबला करना सहल है। खेद है कि सैकड़ों वर्षों के दीर्घकाल में भी यह

मोटी बात नहीं समझी, या अगर समझी भी तो उस पर कुछ ध्यान नहीं दिया। इन्हें मरना और मिट जाना स्वीकार है, पर सुधार करना कठिन मालूम होता है। अभी जात-पाँत को तोड़ने का जिक्र कर दो, तो हजारों दलीलें वेद-शास्त्रों से निकाल कर ले आवें। इन्हें अंगरेजों के गुलाम बन कर रहना पसन्द है और लाखों भाइयों को इस्लाम और ईसाइयत के गढ़े में ढकेल देने में जरा भी रंज नहीं होता है। इन्हें जात-पाँत का अभिमान प्यारा है। ये विचित्र मूर्ख हैं। दुनिया में मूर्ख बहुत हैं, परन्तु ऐसे मूर्ख तो न देखे, न सुने। अतएव अब नवयुवकों का कर्तव्य है कि वे इस सुधार को अति शीघ्र जारी कर दें। इस सवाल पर यदि वे इन्तहा पसन्द बन जायँ, तो भी कोई हर्ज नहीं, क्योंकि रोग भी इन्तहाई दर्जे तक पहुँच गया है। अतः जात-पाँत-तोड़क मण्डल का यह उपदेश होना चाहिए कि हम न ब्राह्मण हैं, न क्षत्रिय, न वैश्य, न शूद्र, न अग्रवाल न सकसेना आदि, बल्कि सब सिर्फ हिन्दू हैं।

रियासत विजयनगर क्षात्र-धर्म के नागरिकों से शून्य हो गई थी। इस युग में हर एक राज्य अपनी रक्षा फौज के द्वारा करता था। हिन्दू-समाज में सिर्फ एक जाति, अर्थात् क्षत्रियों को शस्त्र-शिक्षा दी जाती थी। बाक़ी सारी प्रजा इस विद्या से शून्य और शान्त स्वभाव बन गई थी। अतः जब थोड़े से क्षत्रिय हार गये, तो फिर राज्य दूसरी लड़ाई भी न लड़ सका। लाखों मजदूरों, किसानों और व्यापारियों ने तो कभी फ़ौजी तालीम पाई ही न थी, वे नागरिकों का प्रथम कर्तव्य भी पालन नहीं कर सकते थे। हम देखते हैं, यूरोप में युद्ध के समय प्रत्येक व्यक्ति को सिपाही बनना पड़ता है। चाहे वह विद्वान् हो चाहे मूर्ख, धर्म प्रचारक हो या मामूली आदमी। प्रोफ़ेसर और पादरियों से भी यह सेवा कराई जा सकती थी,

कोई आदमी बच नहीं सकता था, क्योंकि राज्य की रक्षा करना सबका बराबर कर्तव्य है। दुःख है कि जात-पाँत के झमेले ने क्षात्रधर्म को केवल एक जाति के लिए सुरक्षित कर दिया। शेष करोड़ों हिन्दुओं को भेड़-बकरियों की तरह बना दिया। फलतः पहाड़ी भेड़िये उन्हें सहज में खा गये। हर हिन्दू को आज क्षत्रिय बनना चाहिए, चाहे उसका पेशा कुछ भी हो। जो व्यक्ति हथियारों का प्रयोग नहीं जानता है, वह सिर्फ गुलाम और कायर है। हिन्दू राज्यों में हर हिन्दू को फौजी शिक्षा मिलनी चाहिए और अङ्गरेजी इलाके में सरकार की तरफ से ऐसा प्रबन्ध कराने के लिए आन्दोलन होना चाहिए।

हिन्दुओं की बुद्धि इतनी मन्द है कि जब कालेज के विद्यार्थियों को फौजी शिक्षा देने का प्रस्ताव पेश हुआ, तो कुछ सज्जनों (!) ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। न जाने इन महापुरुषों ने ऐसे विचित्र विचार कहाँ से प्राप्त किए हैं! शायद किसी मूर्खता के नीलाम में सस्ते मिल गये होंगे।

हर जाति के अन्दर कुछ थोड़े से त्यागी और आदर्शवादी पुरुष सदैव पैदा होते हैं। शायद हर जाति के हजारों नवयुवकों में से एक ऐसा होता है, जिसे धर्म और परोपकार से अत्यधिक प्रेम होता है और वह लोभ को जीत कर सचाई और आदर्श की सेवा करना चाहता है। ऐसे धार्मिक वीर हर देश में जन्म लेते हैं। ऐसे त्यागी पुरुषों को इकट्ठा करके धार्मिक प्रचारकों के सङ्घ बनाये जाते हैं। वे अपने उदाहरण से जाति के नैतिक चरित्र को सुधारते हैं। वे अपने शरीर को दीपक की भाँति बना कर धीरे-धीरे स्वयं जल जाते हैं और चारों ओर प्रकाश फैला देते हैं। अतएव यह प्रश्न अत्यन्त आवश्यक है कि ऐसे त्यागी प्रचारक किस मार्ग पर चलते हैं और जाति को किस प्रकार की शिक्षा देते हैं। क्योंकि इन्हीं पर वास्तव में सब

आन्दोलन का सफल होना अवलम्बित है। इनका प्रभाव और मेल-जोल बहुत ज्यादा होता है।

भारतवर्ष और विजयनगर में ये संस्थाएँ क्या करती रहती थीं ? क्या वहाँ के साधु और संन्यासियों ने उन शताब्दियों में प्रजा से यह कहा था कि देखो, मुसलमान उत्तर से विजय करते चले आ रहे हैं, खबरदार! तुम भी फौज बनाओ और ख़ूब तैयारी करो ?

इन धार्मिक उपदेशकों का यह कर्तव्य था कि वे ऐसी शिक्षा देते, लेकिन वे चुप रहे। जब समर्थ गुरु रामदास ने बाद में ऐसा प्रचार किया, तो शिवाजी महाराज जैसे देशभक्त भी पैदा हो गये। परन्तु हिन्दुओं में योग और वैराग्य के ऐसे बेहूदा आदर्श थे कि वे तमाम त्यागी, धर्मात्मा नवयुवकों को अपने जाल में फँसा लेते थे और उनकी बुद्धि और साहस का अन्त कर देते थे। कहावत प्रसिद्ध है कि—"जिसने पढ़ी गीता, उसने खो दिया सलीता।" योग और वैराग्य की बहुत सी पुस्तकें पढ़ने से सेवा-कार्य का भाव लोप हो जाता है और सामाजिक जीवन की ओर से ग्लानि उत्पन्न हो जाती है। संसार झूठा है, सब कुछ असार है, सब चीज आनी-जानी हैं, आत्मा और ब्रह्म का सम्बन्ध बड़ा गहरा है, बीवी-बच्चों का प्रेम एक बन्धन है, संसार सागर के पार उतरना जरूरी है। योग-साधन से मुक्ति पा सकते हैं। समाधि ही जीवन का सबसे ऊँचा आदर्श है, शारीरिक स्वास्थ्य और शक्ति, विद्या, कला इत्यादि की आवश्यकता नहीं है। ऐसी कहावतों के वाक्य पढ़-पढ़ कर त्यागी नवयुवक जाति की सेवा करने के लिए कभी तैयार नहीं हो सकते, बल्कि वे बिलकुल निकम्मे और सुस्त बन जाते हैं। उनके त्याग से सभ्यता की उन्नति में किसी प्रकार की सहायता नहीं मिलती है। बल्कि राष्ट्र के भीतर एक प्रकार

का नैतिक विष फैल जाता है, जिसके उदाहरण से भी मनुष्य सुस्त और लापरवाह हो जाते हैं। सारी जाति एक बन्द पानी के तालाब के सदृश्य हो जाती है। स्वास्थ्य, शिक्षा, विज्ञान और धन, यही वस्तुएँ सभ्यता के लिए आवश्यक हैं। परन्तु इन सब पर लात मार कर आत्म-ब्रह्म के आनन्द या योग के चमत्कारों की चर्चा करना जाति की नैतिक पूँजी का दिवाला निकालना है। बन्दा बहादुर और महात्मा गाँधी के जीवन-चरित्र से प्रकट है कि ऐसे त्यागी धर्मात्मा ठीक पथ पर चल कर राजनीति और सामाजिक सुधार के साधन से जाति को कितना लाभ पहुँचा सकते हैं। लेकिन कितने ही योगी और संन्यासी केवल आत्मब्रह्म और संसार-सागर के खोखले शब्दों को रटते-रटते मर गये। न उन्होंने जाति की सहायता की और न दुनिया की सच्ची सेवा की। योग और संन्यास के प्राचीन आदर्श भी रियासत विजयनगर की दुर्बलता के कारण थे। यह कमजोरी रामायण, महाभारत और मनुस्मृति के जमाने में नहीं थी। यह बाद में शुरू हुई है। ऐसी दिमागी ख़ुराक से कोई रियासत मजबूत नहीं हो सकती।

हिन्दुओं के अन्दर बहुत से सम्प्रदाय हैं। यहाँ उनसे प्रयोजन नहीं है। परन्तु उनके अन्दरूनी प्रबन्ध से राज्य पर गहरा असर पड़ता है। क्योंकि हर सम्प्रदाय अपने अनुयायियों को एक खास साँचे में ढालता है। किसी सम्प्रदाय के धार्मिक सिद्धान्त कुछ हों, परन्तु अगर वह मनुष्य गुलामी के अनुसार अपना अन्दरूनी प्रबन्ध करता है, तो वह राष्ट्र के लिए भयानक है। क्योंकि दासता की बेड़ी में जकड़े हुए लोग राजनीतिक प्रश्नों में भी स्वातन्त्र्य दीप ग्रहण नहीं कर सकेंगे। सम्प्रदाय के जीवन से उन्हें जैसी शिक्षा मिली है, वे वैसे ही रहेंगे। अगर किसी सम्प्रदाय का प्रबन्ध सिर्फ एक गुरु के

अधीन है और सब उसकी आज्ञा मानते हैं, तो ऐसे फिर्के गुलामी की ओर ले जायँगे, चाहे उनके सिद्धान्त कुछ भी हों। धार्मिक मण्डप में 'सत्य-वचन' कहने वाले लोग राजनीतिक मामले में 'जी-हुजूर' ही कहेंगे। लेकिन यदि किसी सम्प्रदाय का कारोबार एक प्रतिनिधि के द्वारा चलाया जाता है और हर मेम्बर को राय देने का हक़ है, तो ऐसा सम्प्रदाय राज्य के लिए लाभकारी है। क्योंकि वह लोगों को स्वातन्त्र्यप्रिय और विचारशील बनाता है। विजयनगर राज्य के हिन्दू प्रायः भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में विभक्त थे। शैव, वैष्णव, शाक्त और दूसरे पन्थ गुरु का राग बहुत गाते हैं और ब्राह्मण-गुरु की आज्ञा मानना तो जीवन का बड़ा भारी उद्देश्य था। मानवी हुकूमत की हवा में पले हुए लोग गुलामी के लायक़ होते हैं। अतः यह असाधारण ढोंग, जो हिन्दुस्तान में फैले हुए हैं, जाति-जीवन के लिए अधिकाधिक भयङ्कर हैं। कुछ फ़िर्के तो ऐसी कहानियाँ बड़ी खुशी से सुनाते हैं कि एक गुरु के चेले ने गुरु की आज्ञा से मुर्दा खा लिया या कोई और ऐसा ही कार्य किया। यह बड़ा धर्म समझा जाता है। इस तरह गुरु को, जो वास्तव में मनुष्य है, बाँस पर चढ़ा कर ईश्वर या देवता का दर्जा देना गुलामी का निशाना है। ऐसी कहानियों से बुद्धिमान पुरुषों के दिलों में सिर्फ घृणा और ग्लानि पैदा होती है। हिन्दी में कितनी ही पुस्तकें गुरु की महिमा के वर्णन से भरी हुई हैं। वस्तुतः एक स्वजातीय राज्य में किसी सम्प्रदाय को अपने अन्दरूनी इन्तज़ाम में मानवी आज्ञाओं का ज़हर मिलाने की इजाज़त नहीं देनी चाहिए। क्योंकि ऐसे सम्प्रदायों के पीर बिलकुल दासत्व-भाव से पूर्ण रहेंगे।

अतः हिन्दू-सम्प्रदाय अपने अलग-अलग सिद्धान्तों का

प्रचार भले ही करे, परन्तु अपना अन्दरूनी प्रबन्ध स्वतन्त्रता और श्रेष्ठता के आदर्शों के अनुसार चलावे।

किसी व्यक्ति-विशेष का शासन हिन्दू-जाति के लिए अति हानिकारक सिद्ध हुआ है। भगवान बुद्ध के जमाने में कई छोटी-छोटी स्वतन्त्र रियासतें थीं, लेकिन उनको जबर्दस्त राजे हड़प गये और बाद में सिर्फ बे-लगाम राजा ही हिन्दुस्तान में राज्य करते रहे हैं, न कोई सभा स्थापित की गई और न नियमित क़ानूनों द्वारा राज्य का प्रबन्ध किया गया।

राजा को अधिकार है कि चाहे जिसको मौत की सजा दे और चाहे जिसक धन छीन ले। नीच प्रकृति के राजा तो स्त्रियों के सतीत्व पर भी हमला करते हैं। व्यक्ति-विशेष का शासन तो कभी किसी दशा में भी लाभकारी संस्था नहीं हो सकती। राज्य की बागडोर प्रजा के हाथों में होनी चाहिए।

विजयनगर में राजा और मन्त्रियों का हुक्म चलता था। प्रजा को राज्य के प्रबन्ध से कोई सम्बन्ध न था। उन्हें राजनीति से कोई प्रेम न था। जिस कार्य में कोई मनुष्य भाग न लेता हो, उसके लिए वह अधिक त्याग नहीं करेगा। इसी कारण से ऐसी रियासतों की प्रजा के हृदय में देशभक्ति के भाव बहुत कम होते हैं। सार्वजनिक जीवन की लहर नष्ट हो जाती है और राज्य की रक्षा की ओर से प्रजा उदासीन हो जाती है।

हिन्दू-जाति के अन्दर एक-दो नहीं, बल्कि सैकड़ों राजे-महाराजे रहे हैं। राजा की भी हद हो गई। ऐसी अन्ध-श्रद्धा जाति की मूर्खता का प्रमाण है। राजपूतों को इतनी अक़्ल न आई कि सारे राजस्थान की एक रियासत बना लें। क्योंकि हर एक राजा अपनी पदवी पर मरा जाता था। आजकल के

राजे-महाराजों के नाम से प्रजा हैरान है। लन्दन और पेरिस में रुपये खर्च करने के सिवा और कोई काम इन्हे नहीं है। इनसे कोई पूछे कि क्यों साहब, ये रुपये क्या तुम्हारे बाबा ने कमाये थे, जो तुम इसे अपने ऐशो-आराम में गँवाते हो? इस प्रकार इस रुपये को खर्च करने का तुम्हें क्या अधिकार है? आजकल के राजे-महाराजे प्रायः स्वार्थी, आलसी, अपव्ययी और वेश्याओं के ग़ुलाम होते हैं। भारतवर्ष का आदर्श तो राम-राज्य है, लेकिन आजकल चारों ओर वेश्या-राज्य दिखाई देता है।

यह सब अन्धेर व्यक्ति-विशेष के शासन का परिणाम है। याद रहे कि राज्य-सभा की संस्था के बिना रियासतों का सुधार कभी न होगा। प्रजा के चुने हुए प्रतिनिधि राज्य-सभा बना कर क़ानून बनायें और रियासत का प्रबन्ध करें। केवल इसी उपाय से रियासतों का कल्याण हो सकता है। इन बे-लगाम राजाओं की नाक में नकेल बाँधना जरूरी है। आरम्भ में इन लोगों को थोड़ी सी पेन्शन देकर अवकाश में छोड़ दिया जाय, लेकिन भविष्य में इन सब छः सौ से अधिक दिखावटी राजाओं को रियासतों से पृथक् करके सारे भारतवर्ष की एक रियासत बनानी चाहिए। यदि जाति की राय में प्रजातन्त्र राज्य उत्तम हो, तो किसी राजा की भी खास आवश्यकता नहीं है। हिन्दू सङ्गठन के लिए सब रियासतों का सङ्गठन आव-श्यक है। एक देश, एक नाम, एक जाति, एक राज्य, यह हमारा आदर्श है।

हिन्दुस्तान के किसी-किसी भाग में धनी ताल्लुकेदार मौजूद हैं, जो सैकड़ों गरीब परिश्रमी किसानों से लगान वसूल करके स्वयं आनन्दमय जीवन व्यतीत करते हैं। वे कहते हैं कि हम इतनी जमीन के मालिक हैं, क्योंकि सरकार ने हमें जागीर

दी है या हमारे पास कुछ कागजात हैं, लेकिन सिर्फ यह लूट-लीला है।

किसानों को दुख देकर एक छोटा सा दल चैन से रहता है। विजयनगर में भी कदाचित् यह जागीरदारी की संस्था थी। हर एक राज्य में ऐसी संस्था पतन का कारण हुई है। क्योंकि इससे दो दलों का जन्म होता है, जिनमें सदैव वैमनस्य बना रहता है। जैसे ताल्लुकेदार और किसान। राज्य की नींव बिलकुल कच्ची हो जाती है। राजा और किसान ही जमीन के असली मालिक हैं। ये जागीरदार तो ऊपर के चील-कौवे हैं। स्वराज्य दो प्रकार का होता है। अमीरों का स्वराज्य और गरीबों का स्वराज्य। अमीरों के स्वराज्य में सारी ताक़त जागीरदारों और धनिकों के हाथ में होती है और गरीबों के स्वराज्य में साधारण स्थिति के पढ़े-लिखे आदमियों और किसानों, मजदूरों का प्रभाव होता है। अतः हमको यह बात साफ तौर से समझ लेनी चाहिए कि सिर्फ गरीबों के स्वराज्य से हिन्दू-जाति की रक्षा हो सकेगी। अमीरों का स्वराज्य प्राप्त करने से कोई लाभ न होगा। क्योंकि ऐसी रियासतें शीघ्र नष्ट हो जायेंगी। जब हमारे नेता स्वराज्य की चर्चा करते हैं, तो हमको पूछना चाहिए कि वह अमीरों का स्वराज्य होगा या गरीबों का। जबानी ढकोसलेबाजी का समय चला गया। अब जाति में जागृति हो गई है और वह झूठे आदर्शों के लिए बलिदान नहीं करेगी। सच्चे स्वराज्य में जागीरदारों और ताल्लुकेदारों का स्थायी अधिकार छीन कर उनको किसी अच्छे कार्य में लगाया जायगा और किसान सुख से रहेंगे। जैसे आजाद पोलेण्ड, लिथुआनिया और दूसरे देशों में लगाया गया है। स्वराज्य-प्राप्त भारतवर्ष में किसान-मजदूर स्वतन्त्र होंगे। इसी आशा पर ही किसान और मजदूर स्वराज्य के लिए लड़ेंगे

और सच्चा स्वराज्य प्राप्त होगा । इनके अतिरिक्त हिन्दू-जाति के और भी अन्दरूनी शत्रु हैं, जिनका ज़िक्र भविष्य में किसी समय पर किया जायगा ।

---

# जातियाँ किस प्रकार जीवित रहती हैं ?

जाति का जीवन किस वस्तु में है ? किस चीज़ में जाति की आत्मा छिपी हुई है ? क्या तावीज़ है, जिसे जाति रक्षा के लिए पहने रहती है । क्या कस्तूरी है, जिसे एक अधमरी जाति को सुँघाना चाहिये कि वह कुछ तो होश में आवे ? वह क्या रहस्य है, जिसमें शेष सब भेद छिपे हुये हैं ? वह क्या कुञ्जी है, जिससे जातीय प्रश्नों के सब ताले खुलते हैं ? अलीबाबा को एक मंत्र याद था, जिससे तरह-तरह के बहुमूल्य मोती-जवाहर उसके हाथ आये थे । उसका भाई वह शब्द भूल गया; और वह अपने भाग्य को पीटता रहा; दौलत का द्वार न खुला, पर न खुला । इसी तरह हम पूछते हैं कि जाति के लिए वह क्या मंत्र है, जिससे मनमानी मनोकामना मिलती है—धन, मान, बल, स्वराज्य, चक्रवर्ती राज्य सब प्राप्त होते हैं ?

यह स्पष्ट प्रकट है कि जाति के जीवन का संसार-व्यापी सिद्धान्त अवश्य है, अन्यथा जाति के कर्णधार किस प्रकार अपने देशवासियों की भलाई का प्रयत्न कर सकते हैं। किस नियम से वह काम करने में सहायता लें, किस नेता के अनु-यायी बनें, किस गुरु से शिक्षा ग्रहण करें ? यदि कोई सिद्धान्त नहीं है तो बड़ी निराशा की बात है। सब मामला अटकल-पच्चू और अनिश्चित रहा । किसी आन्दोलन की बुराई-भलाई को पहचानना असम्भव हो गया । प्रकृति की अँधेरी रात्रि में मनुष्य जैसे कमज़ोर यात्री के लिए कोई क़ुतुब ( ध्रुव ) मार्ग

दिखानेवाला नहीं रहा। सिद्धान्त अवश्य होगा। प्रकृति नियम की प्रेमिणी है; नियमबद्ध आन्दोलन की मतवाली है। प्रकृति को पूर्वी रजवाड़ों की सी बदइन्तजामी पसन्द नहीं। प्रकृति फूहड़ नहीं है। पार्थिव संसार में हर वस्तु अटल नियम के अनुसार अपना असर दिखाती है। फिर नैतिक और देशों की दुनिया में भी अवश्य किसी न किसी तरकीब के अनुसार काम होता होगा। अन्धाधुन्ध कार्यवाही न होती होगी। यदि तमाम जातियों की उन्नति और उनकी अवनति से हम कोई सिद्धान्त नहीं निकाल सकते, जिससे हम अपने मार्ग से काँटे हटा सकें, तो इतिहास को धिक्कार है। उसके लड़ाई के मैदान केवल कसाईखाने और उसकी क्रांतियाँ केवल होली का स्वाँग रही हैं। अफसोस है कि लाखों निरपराध जानें गईं, जमाने में उथल-पथल हुई, एक क्षण भी मनुष्य को चैन न मिला। अगर इस पर भी इतिहास से कोई सिद्धान्त जातीय जीवन को बनाये रखने के लिये नहीं मिल सकता, तो उसे व्यर्थ समझना उचित है। क्या यह संसार की जातियों को योंही यह नाच नचा रहा है? अवश्य ही जातीय जीवन का कोई विश्वव्यापी सिद्धान्त है जो हमको मालूम हो सकता है। जिस प्रकार कठोपनिषद् में लिखा है कि नचिकेता ने यम से पूछा—मुझे मनुष्य की मृत्यु का रहस्य बताओ? मुझे हाथी-घोड़े, सोना-चाँदी की आवश्यकता नहीं। उसी तरह हमारे मन में निरन्तर प्रश्न उठता रहता है कि क्या जातीय जीवन का कोई सिद्धान्त है? यदि है, तो हम जानने के लिए उद्यत हैं। जंगलों में घूमने से हम नहीं डरते, पहाड़ों की गुफाओं से परहेज नहीं करते। जो तप आवश्यक होगा करेंगे। अगर पेरिस पहुँचना हो, तो एक पल भर में जा धमकेंगे। अगर समुद्र की तह में प्रयोग करना हो, तो पानी के कीड़े बनकर रहेंगे, क्योंकि हम उस अमृत की

तलाश में हैं। आज भारतवर्ष जातीय जीवन का गुर ढूँढ़ता है। जान निकल रही है। धर्म और जाति पर प्रत्येक ओर से आक्रमण हो रहे हैं। आस-पास की जातियाँ कहती हैं कि इसमें अब क्या रहा है। राम-नाम लो और तैयारी करो। इतिहासकारों की सम्मति है कि अब आगे इससे कुछ नहीं बनेगा—ऐसी दशा में हम उस आत्म-जीवन-बूटी के लेने को हिम्मत की कमर बाँधकर चले हैं, जिससे हमारी जाति पुनः जीवित हो। हनुमान जी ने एक लक्ष्मणजी के लिए पहाड़ उलट डाले। हम क्या अपने हिन्दू बच्चों के लिए, जिनमें से एक-एक राम-लक्ष्मण की तस्वीर है, सारी जमीन को उलट-पलट न कर देंगे कि उनकी बर्बादी के जो सामान दिखाई देते हैं उनको दूर किया जाय।

संसार के इतिहास के अध्ययन से क्या सिद्धान्त मालूम हुए हैं, जिन्हें पूर्व और पश्चिम के विद्वानों ने अपनी किताबों में बयान किया है। जातीय उन्नति के नियम भूतकाल के वर्णनों में छिपे हुये हैं। मरनेवाले मर गये। परन्तु हमको जीवित रहने की तरकीब बता गये हैं। जो कुछ मनुष्य जाति ने किया है, उस दास्तान का अक्षर-अक्षर हमारे लिये पवित्र है, क्योंकि हम उससे जातीय और देश के आन्दोलन को सफलता के साथ चलाने की तदबीर सीखते हैं।

संसार का इतिहास क्या ही समुद्र है, जिसमें अगणित जवाहर मौजूद हैं; जिन्हें बुद्धिमान गोताखोर निकालते हैं और अपनी प्रियतमा जाति के सम्मुख उपस्थित करते हैं। इन विचारों और सिद्धान्तों को जाति बड़े यत्न से रखती है। इनकी इस प्रकार रक्षा करती है जैसे साँप खजाने पर बैठता है। वैज्ञानिक विद्वान सोच-विचार के पश्चात् जो ज्ञान इतिहास से प्राप्त करते हैं उससे जाति की मुक्ति होती है। उस ज्ञान की

क़द्र न करने वाले नष्ट होते हैं। उसको सर-आँखों पर रखने वाले इस लोक में भी और परलोक में भी अपने मनोरथों को पाते हैं।

हिन्दुस्तान के लिए संसार का इतिहास क्या सन्देश लाता है? जो जातियाँ चल बसी हैं उन्होंने भीष्मपितामह की तरह मृत्यु-शैया से हमारे लिए क्या संदेश छोड़ा है? जिन जातियों की आज सब तरह से चलती है उनकी मिसाल से हमको क्या शिक्षा मिलती है? जातीय उन्नति के एक मोटे सिद्धान्त पर विचार करना उचित मालूम देता है। सारे अंगों पर विचार करना असम्भव है। गागर में सागर को क्योंकर बन्द किया जा सकता है?

## "जातीय जीवन का एक बड़ा सिद्धान्त जातीय इतिहास को जीवित रखना है।"

कुछ दक़ियानूसी पण्डित यों कहेंगे कि क्या बात बताई है। जप नहीं बताया, तप नहीं सिखाया; श्राद्ध; कर्म, पाठ आदि कुछ अच्छी तरकीब भी नहीं समझाई जिससे जाति को लाभ होता। यह क्या वाहियात व्यर्थ का सिद्धान्त निकाला है। यह भी कोई सिद्धान्त है! इसमें क्या खूबी है! यह कौन सी बारीक बात है। दर्शन नहीं, वेदान्त-सूत्र नहीं, योगाभ्यास नहीं, सर्व-दर्शन संग्रह नहीं। यह हेतु-हेतुमद्भूत की गणना किस रोग की दवा है? यह मरघट की सैर किस बीमारी के लिये लाभकारी है? इतिहास क्या है, यही कि अमुक मरा, अमुक पैदा हुआ। अस्तु, अब मुर्दों का क्या रोना। स्यापे की मियाद निश्चित है। यह जातीय स्यापे को सदा क़ायम रखने की सलाह क्या अर्थ रखती है। वाह, यह क्या भाट का काम है जिसमें ईश्वरीय ज्ञान नहीं, आत्मा का नाम नहीं, सत-असत

का विचार नहीं। यह था, वह था, हम थे, तुम थे—इस व्यर्थ के वर्णन से जातीय उन्नति क्या हो सकती है! इस अनुमति से तो मृतक शरीर की सी गन्ध आती है। उच्च मस्तिष्क वाले और न्यायप्रिय मनुष्य इसको कदापि सहन न करेंगे कि मुर्दों की क़ब्रें उलटा करें। यह तो जातीय मृत्यु का कारण हो सकता है। जातीय जीवन की शकल तो दिखाई नहीं देती। आदमी पंछी है। आज आया, कल चला गया। दस दिन ज्यों-त्यों कर बिता गया। अन्त में एक मुट्ठी राख बन कर गंगाजी की शरण में आ गया। इतिहास ऐसे-ऐसे ही नौचन्दी के मेले के दर्शकों के कारोबार का वर्णन है। इतिहास केवल एक बड़ा भारी पुलीस का रोजनामचा तथा व्यापारिक बही-खाते और म्युनिसिपेलिटी के मौत और पैदाइश का रजिस्टर अथवा तीर्थ के पण्डों की पोथी का संग्रह है। इससे अधिक उसकी और क्या प्रतिष्ठा है? इतिहास से कुछ सत्य नहीं प्राप्त होता, कोई मतलब नहीं पूरा होता, कोई सिद्धान्त प्रमाणित नहीं होता। फिर व्यर्थ की माथापच्ची क्यों की जावे? हजारों राजा हुये हैं और लाखों और होंगे। प्रत्येक के राज्य-काल का हाल पढ़ते-पढ़ते अज्ञ चक्कर में आ जावे और कुछ हाथ न लगे। कोई भी मीमांसा का सिद्धान्त मालूम न हो। ब्रह्म-जीव की महत्ता, आत्मा का उद्गम और उसके भविष्य का हाल, मनुष्य की मानसिक शक्तियों का वर्णन आदि इनमें से कौन से प्रश्न को इतिहास हल कर सकता है? इतिहास तो भाटों आदि की जीविका का साधन है। बच्चों के दिल बहलाने का खिलौना है। रात को लोरी के बदले इतिहास की एक कहानी सुनाई कि बच्चा अच्छी तरह सो जाये। अलिफलैला न पढ़ी हिन्दुस्तान का इतिहास पढ़ लिया। किन्तु जाति के मार्ग-प्रदर्शकों को, बुद्धिमानों को, पण्डित

ज्ञानियों को अपनी लियाक़त इस व्यर्थ की विद्या में नष्ट नहीं करनी चाहिये। मीमांसा पढ़ें, षट-शास्त्र पढ़ें, व्याकरण घोटें तो एक बात है। किन्तु इतिहास से न आत्मा की शुद्धि होती है, न परमात्मा मिलता है। यह किसी अर्थ का नहीं है।

हमारे पण्डितगण आज तक इतिहास की ओर से ग़ाफ़िल हैं। कोई कवि है, कोई व्याकरण जानता है, कोई तर्क-शास्त्र पढ़कर बाल की खाल निकालता है, कोई ज्योतिष से ग्रहण का समय बता सकता है। किन्तु इतिहास के ज्ञाता कहाँ हैं? पण्डितों को तो यह भी मालूम नहीं होता है कि मुसलमानों को इस देश में आये हुये कितना समय हुआ, अथवा सिकन्दर महान कब सतलज से अपना-सा मुँह लेकर लौट गया था। जातीय इतिहास के सिलसिले से वे अनभिज्ञ होते हैं। उन्हें इससे क्या प्रयोजन कि कौन सी घटना कब हुई, या हुई भी कि नहीं हुई। उनको अन्य जातियों का इतिहास तो अलग रहा उनके अस्तित्व का भी ज्ञान नहीं होता। इसी कारण से प्राचीन काल में किन-किन जातियों से हमारा सम्बन्ध था, इस प्रश्न पर वे कुछ सम्मति नहीं दे सकते। दुःख का विषय है कि एक प्राचीन जाति के विद्वानों का उसके इतिहास से परिचय न हो। काशीजी में, नदिया में सब प्रकार की विद्या का प्रचार है, शास्त्र, वेद, व्याकरण, सब की प्रतिष्ठा है, किंतु एक बेचारे इतिहास की शक्ल से पण्डित बेज़ार हैं। इस विषय पर न कोई प्रमाणित ग्रंथ है, न सूत्र रचे गये हैं, न वाद-विवाद होता है, न टीका लिखी जाती है।

जब हम इतिहास के अध्ययन को जातीय जीवन का सिद्धान्त मानते हैं, तो पण्डितों की इस दशा को देखकर हमको यह कहानी याद आती है कि एक चौबे जी भोजन करने यजमान के घर गये। लड़का भी साथ था। उन्होंने उससे पूछा

कि भोजन जीमने का क्या नियम है ? लड़के ने कहा कि आधा पेट खाना चाहिये, चौथाई पेट पानी के लिये और बाक़ी जगह हवा के लिए रखना जरूरी है। तब चौबे जी ने कहा—तुम अभी बच्चे हो, अक़्ल के कच्चे हो। देखो, भोजन का सिद्धान्त यह है कि पूरा पेट खाने से भर लो। पानी का गुण है कि इधर-उधर से भोजन के बीच मे अपना रास्ता निकाल ही लेता है। और हवा का क्या है, आई गई, न आई न सही। इसी प्रकार पण्डितगण तर्क और व्याकरण पर लट्टू होते हैं। परन्तु जातीय इतिहास की चिन्ता नहीं करते, जिसके बगैर न तर्क चलेगा न कवित्त लिखे जायेंगे।

"कौड़ी को तो खूब सँभाला, लाल रतन क्यों छोड़ दिया" —जातीय इतिहास को जीवित रखना जातीय जीवन का उत्तम सिद्धान्त है।

प्रत्येक जाति का भाग्य उसके गुणों पर निर्भर है। प्रत्येक जाति अपनी क़िस्मत का ख़ुद मालिक होती है। यदि किसी जाति के बुरे दिन आ जायँ; यदि उसकी धन-दौलत, प्रतिष्ठा, मान-मर्यादा, राज-पाट, धर्म-कर्म सब मिट्टी में मिल जाय, तो उस समय उस जाति का क्या कर्तव्य है ? क्या विजयी को गालियाँ देने से उसका काम बन जायगा ? क्या विजयी लोगों की बदी, नाइत्तिफ़ाक़ी, लालच या मक्कारी को प्रमाणित कर देने से उस जाति का भला हो जायगा ? क्या विजयी की निन्दा करने से उसके अवगुणों का पूरा इलाज हो जायेगा ! क्या शब्दाडम्बर, वाक्य-कौशल और डींग-डपाल काम देगा ? क्या वाक्य-चातुरी और मृदुभाषिता उसका बेड़ा पार लगावेगी ? क्या विजयी लोगों की पालिसी (कार्य-प्रणाली) पर पुस्तकें लिखने और उनको दुनिया भर का दग़ाबाज़ और चालबाज़ प्रमाणित कर देने से ही उस गिरी हुई जाति की मोक्ष हो

जायगी ? नहीं, कदापि नहीं। जब कोई जाति अपने देश में दुःख पाती है, जब उसकी कन्याएँ विजयी लोगों की लौंडियाँ और उसके नौजवान गुलाम बनाये जाते हैं, जब उसका अन्न उसके बच्चों के पेट में नहीं पड़ता और वे भूख से त्राहि-त्राहि करते हैं, जब उसके धर्म का नाश होता है और उसके राजा और पुरोहित विजयी लोगों की अर्दली में नौकर रखे जाते हैं, जब उसकी औरतों की इज्जत विजयी लोगों की कुदृष्टि से नहीं बच सकती और वे ऐसे देश में रहने से मौत को बेहतर समझ कर जहर का घूँट पीकर चल बसती हैं, जब किसी जाति की ऐसी अप्रतिष्ठा और बदनामी होती है, तो उसके लिए आवश्यक है कि अपने हृदय को टटोले, अपने गुणों की परीक्षा करे, अपने आचरण की जाँच-पड़ताल करे और मालूम करे कि वे कौन से अवगुण हैं, जिनके कारण उसकी ऐसी गति हुई है। क्योंकि जब तक कोई जाति, जो संख्या की दृष्टि से पर्याप्त प्रतिष्ठा रखती हो लालच, काहिली, खुदगर्जी, इन्द्रिय-लोलुपता और बुजदिली में गिरफ्तार न हो, उस पर तमाम दुनिया की जातियाँ मिलकर चढ़ आयें, तो भी विजय नहीं प्राप्त कर सकतीं। ऐसी जाति को चाहिये कि उन भीतरी शत्रुओं का मुकाबिला करे जो उसके जीवन को घुन की तरह खा रहे हैं। तब वह बाहरी दुश्मनों के सामने खड़ी रह सकेगी। जिसने मन जीता उसने जग जीता। और ऐसी जाति के उद्धार के लिये व्याख्यानदाताओं और लेखकों, वकीलों, बैरिस्टरों और डेलीगेटों की इतनी जरूरत नहीं है जितनी साधु-सन्तों की, जिन्होंने अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली हो। क्योंकि जाति लेखनकला की अनभिज्ञता या क़ानून की अवहेलना करने से नहीं गिरी, बल्कि उन सद्गुणों के न होने से जो स्वतन्त्र जातियों में पाये जाते हैं। अतः यदि कोई विजित जाति पूछे

कि मेरे अपमान का कारण कौन जाति है, तो जवाब दो कि तुम ख़ुद हो, तुम खुद हो। विजयी जाति किसी निर्जित जाति की हार का कारण कभी भूले-भटके ही होती है। क्या गिद्ध जो लाश से बोटियाँ नोच-नोच कर अपनी ज्याफ़त करता है, उस शख्स की मौत का कारण होता है ? मरता तो आदमी बीमारी या दुर्घटना से है। गिद्ध तो केवल इस बात को सब पर प्रकट करता है कि यहाँ लाश पड़ी है। वह चिन्ह है, सबब नहीं। परिणाम है, कारण नहीं।

जातीय इतिहास उन सद्गुणों को जीवित रखता है जिन पर जातीय अस्तित्व का दारमदार है। चिराग़ ही से चिराग़ जलता है। महापुरुषों की मिसाल ही हमको उनका अनुकरण करने पर तैयार करती है। इस वास्ते जिस जाति का कोई इतिहास न हो, उसकी उन्नति के लिये ज़रूरी है कि वह किसी और जाति के साथ ऐसा सम्बन्ध पैदा करे कि उसके बुजुर्गों को अपना समझने लगे, या ऐसा धर्म ग्रहण करे जिससे किसी जाति का इतिहास उसके लिये जोश दिलाने वाला बन जावे। उदाहरणार्थ अफ्रीका के हब्शी स्वयम् उन्नति करने के अयोग्य हैं, क्योंकि उनके पास कोई आदर्श नहीं है, कोई नाम नहीं है, जो उनको परोपकार, बहादुरी, सचाई सिखाये। उन हब्शियों की उन्नति आजकल मुसलमानी धर्म के द्वारा हो रही है। जब वे मुसलमान लोगों के नबियों और औलियाओं के जीवन-चरित्र पढ़ते हैं और उनके कामों की तारीफ करते हैं, तो वे सभ्यता के सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। अगर इस तरह किसी सभ्य जाति के इतिहास से अपना सम्बन्ध स्थापित न करें, और उसकी ज्योति से अपनी ज्योति प्रज्वलित न करें, तो वे प्रलय तक अज्ञान और दुर्बलता के शिकार बने रहें। अतः इतिहास ही सब गुणों का दाता है। इतिहास सब धर्मों

का संग्रह है। इतिहास के द्वारा हम महात्मा बुद्ध, शंकराचार्य, गुरु नानक आदि समस्त धार्मिक और नैतिक मार्ग-प्रदर्शकों के जीवन-चरित्र से शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। इतिहास की मुट्ठी में सब धर्मों का अनुकरण है। इतिहास से बच कर कोई कहाँ जायगा ? यह तो हाथी है, जिसके पाँव में सब का पाँव है।

इतिहास हमको स्मरण कराता है कि हमारा कर्तव्य क्या है। दुनिया के झगड़ों में फँस कर जब हम उच्च विचारों को भूलने लगते हैं, तो बुजुर्गों की आवाज सुनाई देती है कि खबरदार हमारी आन रखना, हमारा काम जारी रखना, मजबूत रहना, जिस तरह हमने जाति और धर्म के लिए कोशिश की, उसी तरह करते रहना; ऐसा न हो कि हमारा प्रयत्न यों ही नष्ट हो जाय। यह शङ्ख जाति को हर समय जगाता रहता है। इतिहास जातीय मञ्जिल की अँधेरी रात में चौकीदार की तरह कहता है कि सोना मत; अपने माल की रक्षा करो। यह सिद्धान्त कभी नहीं भूलना चाहिए कि नैतिक उन्नति का प्रारम्भिक सोता मनुष्य होता है। जीता-जागता पाँच फुट का कोई आदमी ही जाति को सुधारता है। किताबें, मसले, रस्में, आदर्श टीम-टाम, कहावतें, मीमांसा की शुष्क बातें—ये सब उस आदमी के नौकर हैं, उसके मालिक नहीं। किताबें केवल रद्दी का ढेर हैं, यदि एक आदमी इनके अनुसार जीवन बसर करके नहीं दिखलाता। भजन, प्रार्थना, संसार के तरीके, शिक्षा का प्रबन्ध, नियम और उप-नियम, सभा समाज, मत और दोल, अखबार—ये सब जरिए व्यर्थ हैं, अगर कोई आदमी हमारे सामने उदाहरण के रूप में न हो। ये सब मसाला तो तेल-बत्ती की तरह है। एक आदमी का जीवन ही आग है, जिससे रोशनी फैलती है। यह सारा सामान बारात की टीम-टाम है। दूल्हा

तो वह महापुरुष है जिसके प्रत्येक काम से हजार शिक्षाएँ मिलती हैं; जिसकी प्रत्येक बात जादू का असर रखती है; जिसका नाम समय यदि घिस-घिसकर भी मिटावे तो इतिहास की पट्टी से नहीं मिटेगा; जिसकी तस्वीर हर दिल में रहेगी चाहे लोग और सब कुछ भूल जायँ। नैतिक उन्नति पर मुल्की, दुनियावी और हर तरह की उन्नति का दारमदार है। अगर जाति के आदमी लालची, डरपोक और स्वार्थी हैं, तो वह जाति अवश्य नष्ट होगी, चाहे प्रत्येक गाँव में पार्लियामेंट (राजसभा) बन जाय और दुनिया भर के अधिकार उन्हें दान कर दिये जायें। यदि जाति का आचरण ठीक है तो प्रत्येक दशा में वह प्रसन्न रहेगी, चाहे कोई भी सभा या समाज या जलसे न होते हों। अतः इतिहास से हम उन महात्माओं के वचन सुनते हैं, जिनके जीवन की याद के बिना मोटी मोटी किताबें चाहे वे कितनी ही प्राचीन क्यों न हों; गम्भीर प्रश्न जो नारदजी की समझ में भी न आवें; मीठे भजन जिनको सुनते-सुनते लोग आनन्द-मग्न हो जायँ; बड़ी कान्फरेन्सें ( सभाएँ ) जिनमें भारतवर्ष का प्रत्येक परिवार तक प्रतिनिधि भेज दे; कालेज जिनकी छत आसमान से बातें करती हो। व्याख्यान जिनको सुनने सरस्वती भी उतर आवे; समाचार-पत्र जिनका प्रचार हर गाँव में हो, बिलकुल बेकार हैं। ये सब चीज किसी जाति को नहीं उठा सकतीं। इतिहास मनुष्यों से हमारा परिचय कराता है और इस कारण हमारा सबसे बड़ा शिक्षक है। इतिहास सन्तों की समाधि है। केवल समाधि चुप होती है। इतिहास उनकी हर बात का राग गाता है। समाधि शक्ल दिखाती है, किन्तु इतिहास प्रत्येक वचन और कार्य, प्रत्येक आदत और प्रकृति पर प्रकाश डालता है।

अतः जातीय आचरण पर जातीय अस्तित्व अवलम्बित है। जातीय आचरण उन आदमियों के जीवन का सहारा है, जिन्होंने धर्म और सत्य का पालन किया है। इतिहास इन महात्माओं के जीवन चरित्र का नाम है। इसलिए इतिहास पर जातीय अस्तित्व अवलम्बित है। दो बड़े सिद्धान्त जिनसे यह सचाई प्रमाण की हद तक पहुँचती है, हमें याद रखने आवश्यक हैं। पहला है—

## जातीय आचरण की महत्ता

छोटी जातियाँ जिनके पास न धन हो, न हथियार, केवल आचरण में उच्च होने के कारण बड़ी जातियों की दौलत और शक्ति छीन सकती हैं। आचरण ही मनुष्यों के जीवन को सफल करता है और हमारी मानुषिक शक्तियों को उन्नति करने का अवसर देता है। जिस जाति के पास आज सद्गुण मौजूद नहीं है, किन्तु दुर्ग हैं, मन्दिर हैं, खजाने हैं, तोपें हैं, तो समझ लो कि वह जाति उस मकान की तरह है, जो खोखली नींव पर खड़ा है। उसके मन्दिर गिराए जायँगे और उनकी ईंटों में उसके बच्चे चुने जायँगे, उसके खजाने लूटे जायँगे और उसके शत्रुओं को मालामाल करेंगे, उसकी तोपें उसी का नाश करने के लिए काम में लाई जायेंगी और उसके घरों की ओर उनके मुँह किये जायँगे। इसके विपरीत यदि जाति में अच्छे गुण हैं, तो वह न केवल अपनी रक्षा कर सकेगी, बल्कि दूसरों को सहायता भी देगी। उसकी ओर कोई आँख उठा कर भी न देख सकेगा। उसके सर का बाल तक बाँका न होगा। उसकी मर्यादा बढ़ेगी। उसके खेत हरे-भरे रहेंगे और उससे ईर्ष्या करने वालों का मुँह काला होगा। दूसरा सिद्धान्त है—

## "नैतिक उन्नति के लिए जीवन की उपमा की आवश्यकता ।"

आचरण तो करने की विद्या है, कहने की तो बात ही नहीं है। जर्मनी के प्रसिद्ध कवि गेटे ने कहा है कि तुम्हारा प्रति दिवस का जीवन अत्यन्त शिक्षा-जनक पुस्तक से अधिक उपदेश दे सकता है। प्रत्येक मनुष्य का बर्ताव ऐसा होना चाहिए कि वह स्वयं मूर्तिमान शास्त्र हो। परोपकार पर व्याख्यान देने की उसे आवश्यकता न रहे, क्योंकि उसकी शक्ल ही हजार व्याख्यानों का असर रखती हो। लालच के विरुद्ध उसे उपदेश देना न पड़े। प्रसिद्ध है कि एक कवि का एक शिष्य नित्य उसे दिक करता कि आपने यह शुद्धि किस किताब के आधार पर की है, यह शुद्धि किस नियम के अनुसार है। एक दिन गुरु जी झल्ला गये और कहा, अरे हम कविता कहते-कहते स्वयं पुस्तक बन गये हैं, तू यह क्या पूछता रहता है। इसी तरह वे ही मनुष्य जाति को पुनः उन्नति के मार्ग पर ले जा सकते हैं, जिनसे अगर पूछा जाय कि यह बात आप किस आदर्श की दृष्टि से करते हैं, परोपकार किस सिद्धान्त से करना आवश्यक है, तो ये कह सकें कि भाई हम स्वयं आदर्श और सिद्धान्त हैं। हमारा जीवन ही हमारे अनुकरण का प्रमाण है। अधिक क्या कहें। केवल पुस्तक अवसर पर काम न आवेगी। मंत्र समय पर धोखा देगा। प्रार्थना क्या खबर है सुनी जाय या न सुनी जाय, तावीज कठिनाई में टूट कर गिर पड़ेगा। श्लोक और ऋचाएँ हृदय को ढाढ़स न देंगी। ये सब इसी समय काम आवेंगी जब किसी महापुरुष का चित्र आँखों में फिरता हो, जिसने उन परीक्षाओं का मुकाबिला किया हो जिनका हमें

सामना करना है। उनकी सहायता ही हमारी मुक्ति का कारण होगी।

अतएव सम्मिलित महापुरुष-पूजा को ही अंगरेजी लेखक कार्लाइल सारी उन्नति का मूल मानता है। उसकी सम्मति में संसार का इतिहास केवल महान् पुरुषों की करामात का प्रत्यक्ष रूप है।

जातीय इतिहास से अपने रिवाजों, प्रथाओं और जातीय संस्कारों की प्रतिष्ठा होती है।

प्रत्येक जाति का अस्तित्व आचरणों के अतिरिक्त उन रिवाजों पर निर्भर है जिन्हें वह मानती है। ये रिवाज भी आचरण को बनाये रखने के अभिप्राय से चलाये जाते हैं और बहुधा प्राचीन पुरुषों की स्मृति को बनाये रखने का कारण होते हैं। प्रत्येक जाति की अलग चाल-ढाल होती है। आदमी आदमी में अन्तर है। कोई हीरा है कोई पत्थर है। हर जाति की भाषा, रहने का तर्ज, त्योहार, मेले-तमाशे, शादी और गमी के दस्तूर अलग-अलग हैं। वे उसके भूत-कालीन अनुभव के परिणाम हैं। ये विशेषताएँ उसके देश और उसकी आवश्यकताओं के अनुसार होती हैं और उसकी कौमी हैसियत को प्रकट करती हैं। इस तरह हर कौम, हिन्दू, मुसलमान, अंगरेज, फ्रांसीसी अलग पहचानी जाती है। उसके जीवन का प्रत्येक अंग यह प्रकट करता है कि कि उसके विशेष गुण हैं और विशेष कर्तव्य और विशेष शक्तियाँ हैं। अतः जातीय विशेषताओं को बनाये रखना आवश्यक है। उदाहरणार्थ पोशाक ही को लीजिए, यों तो कपड़े पहनने का बड़ा अभिप्राय गरमी-सरदी से बचना और लाज-शरम को बनाये रखना है। किन्तु जब कोई जाति एक विशेष पोशाक ग्रहण कर लेती है, तो एक तीसरा अभिप्राय भी हो जाता है। वह पोशाक उस जाति की एकता का चिन्ह हो जाती

है, और उसे दूसरों से अलग करती है। हर जाति के लिए उसकी प्रथाएँ और उसके समाज का ढाँचा सीपी की तरह है, जिसमें उसके सद्गुणों और विचारों का मोती छिपा रहता है। जब मोती सीपी की शरण से निकला तो गैरों के हाथ बिक गया। या यों कहो कि जाति के रिवाजों का चोखटा उसके हृदय और दिमाग़ के दर्पण को रौनक देता है ताकि वह संसार के इतिहास की प्रदर्शनी मे दीवार पर अच्छी जगह रखे जाने के योग्य हो। जाति यदि सिपाही है, तो उसकी संस्थाएँ (अर्थात् स्थायी जातीय विशेषताएँ, जैसे भाषा, त्योहार आदि) और उसके संस्कार लोहे के कवच हैं, जो उसे दुश्मनों के तीरों से बचाते हैं। यदि जाति हीरा है, तो संस्थाएँ अँगूठी हैं, जिसमें वह अपनी चमक-दमक दुनियाँ के बाजार के जौहरियों को दिखलाता है।

जातीय इतिहास से हमको पता लगता है कि हमारे रिवाजों और संस्थाओं की क्या वास्तविकता है, किस अभिप्राय से उन्हें स्थापित किया गया। था उनमें क्या ख़ूबियाँ हैं; उनसे जाति की एकता और आचरण को किस प्रकार सहायता मिलती है। जिन रिवाजों के लाभों से हम अनभिज्ञ हैं उनके लिए हमारे दिल में इज्जत नहीं हो सकती। उनको अवश्य ही हम बेहूदा और व्यर्थ समझने लगेंगे। उनसे घृणा करने लगेंगे। इस प्रकार हमारा दैनिक जीवन कण्टकाकीर्ण हो जायगा। क्योंकि हमको अपने जातीय चाल-ढाल से प्रेम न रहेगा। फिर हमको अपने दस्तूर और नियम पिंजड़े की तीलियाँ दिखाई देने लगेंगे जिनसे हम पङ्ख मारते-मारते घायल हो जाएँगे।

## "जातीय इतिहास ऐक्य का द्वार है"

आजकल एकता की बड़ी धूम है। कौवों की सी कायँ-कायँ सब ओर हो रही है। शायद यह आशा है कि कौवों का-सा

एका उनकी तरह शोर मचाने से हो जायेगा। कोई कुछ प्रस्ताव पेश करता है, कोई कुछ उपाय बतलाता है। वास्तव में जातीय इतिहास ही एकता की बड़ी कुंजी है। क्योंकि जाति के कारनामों और संस्थाओं में सबका भाग है। सबको वे जान से प्यारे हैं। आज कुछ भी झगड़ा-टण्टा हो, धाक-बन्दियाँ हों, परन्तु त्योहार के दिन सब भेद-भाव भूल जाते हैं। बुजुर्गों का नाम लेकर सब गले मिलते हैं और जातीय उत्थान की मनमोहक कहानियाँ सुन कर सुना कर .खुशी से फूले नहीं समाते हैं। जातीय महापुरुषों का नाम सदैव जाति के समस्त दलों को प्रिय होता है। और वास्तव में देखो तो जातीय इतिहास ही जातीय प्रतिष्ठा का चिन्ह है। जाति में प्रत्येक वस्तु परिवर्तित होती रहती है। समय सारी प्रथाओं को कुछ का कुछ कर दिखाता है। वस्त्र, भोजन, भाषा, रस्म आदि में थोड़ा-थोड़ा हेर-फेर होता रहता है। धर्म में क्रान्ति उपस्थित हो जाती है। इङ्गलिस्तान जो आज रोम के नाम से चिढ़ता है, कई सौ वर्ष पहले रोम के धर्म का अनुकरण करने वाला था। अब अङ्गरेज व्यापार, शिल्प और कला-कौशल से जीविका कमाते हैं। सारा देश एक भट्ठी बना हुआ है। भूतकाल में वे खेती से पेट भरते थे। सारा देश खेती से लहलहाता था। सारांश यह कि यदि अङ्गरेजों के पितृ अब वापस आवें, तो अपनी संतान को पहचान भी न सकें। अतः वह क्या वस्तु है, जिससे यह विचार बना रहता है कि हम एक जाति हैं और सदा से रहे हैं? जातीय शक्ति की वृद्धि करना हमारा कर्तव्य है? केवल जातीय इतिहास से यह भावना बनी रहती है। जाति की क्षणिक संस्थाओं में इतिहास अटल संस्था है। जाति की अन्य प्रथाएँ और विशेषताएँ तोताचश्म हैं। जो आज उन्नति का कारण हैं, कल वही हानिकारक प्रमाणित हुई हैं। एक समय

जाति को विजय दिलाती हैं, दूसरे अवसर पर उसको नीचा दिखलाती हैं। किन्तु जातीय इतिहास वह वस्तु है जो हमेशा मूल्य रखती है। यह कभी जाति को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचा सकता। हमेशा सदाचरण और एकता सिखाता रहता है। अतः हम देखते हैं कि जाति की समस्त बातें बदलती रहती हैं, बल्कि समय मजबूर करता है कि जाति उनको बदलती रहे। किंतु जातीय इतिहास उन सब रिवाजों के मोतियों को जो किसी समय जाति के प्रियपात्र रहे हों, एक लड़ी में गूँथ कर एक ऐसी माला बनाता है, जिसका पहिनना बच्चे का अधिकार और कर्तव्य है; और जिससे जाति की मानसिक और नैतिक उन्नति का पता चलता है।

अतः जातीय इतिहास ही जाति के व्यक्तियों को मिला सकता है। क्योंकि बुजुर्गों से किसको दुश्मनी है ? आपस में कितना ही लड़ें, श्राद्ध के दिन तो सब सम्बन्धी जमा हो ही जाते हैं। जातीय इतिहास यह स्मरण कराता रहता है कि तुम वही हो जो पहले ऐसा-ऐसा करते रहे। तुम्हारे विकास का मूल यही है। तुम पर यह बीती है। तुमने अमुक-अमुक काम किये हैं। ये सब बातें जाति के प्रत्येक मनुष्य पर सही उतरती हैं। वह अपने वंश, अपने धर्म, अपने रिवाजों और प्रथाओं से इन्कार नहीं कर सकता। अतः जिस जाति का इतिहास जीवित है, वह कभी भीतरी झगड़ों से नष्ट नहीं हो सकती।

इसलिए सभी जातियाँ अपने इतिहास को जीवित रखना अपना धर्म समझती हैं। बुजुर्गों की यादगार क़ायम करने को मुख्य कर्तव्य ख़याल करती हैं। निम्नलिखित उपायों से इतिहास का ज्ञान फैलाया जाता है:—

( १ ) त्योहार के दिन जाति के इतिहास में मुबारक हैं। उनके आने पर ख़ुशी मनाना जातीय इतिहास सिखाने का

सुगम मार्ग है। जैसे अमेरिका और फ्रान्स में स्वाधीनता के आन्दोलन की सफलता की यादगार में जुलाई में त्योहार मनाया जाता है। इङ्गलिस्तान में अब एक नया त्योहार एम्पायर डे ( साम्राज्य दिवस ) स्थापित करने की सम्मति है, जो विक्टोरिया के जन्म के दिन मनाया जाता है। इसका अभिप्राय है कि बच्चों को ब्रिटिश साम्राज्य की ओर अपने कर्तव्य का स्मरण रहे।

( २ ) शहरों, बाज़ारों और अन्य स्थानों का नाम बुज़ुर्गों के नाम पर रखना—यह रिवाज सारे संसार में पाई जाती है। पेरिस के सारे शहर में नेपोलियन का नाम गूँजता है। उसकी विजय-जयन्तियों की तारीखें हर गली-कूचे की दीवार पर लिखी हुई हैं। यहाँ तक कि जिन तारीखों पर कोई प्रसिद्ध जातीय घटना हुई है, उनको भी किसी जगह का नाम बना दिया है, मसलन एक गली और स्टेशन का नाम "४ सितम्बर" है। पहले-पहल मैं चकित रह गया कि यह क्या मामला है। यह ४ सितम्बर क्या वस्तु है? किंतु मालूम हुआ कि इसी प्रकार १४ जुलाई आदि नाम भी हैं। लन्दन में ट्राफलगर चौक, वाटरलू स्टेशन इङ्गलिस्तान की जल और थल-शक्ति की यादगारें हैं। फ्रान्स के कोई कोई जहाज़ फ्रान्स के विद्वानों के नाम पर हैं।

( ३ ) खास तौर पर मूर्ति या मकान बनाना—मूर्ति सदा से बुज़ुर्गों की यादगार स्थापित करने का अच्छा तरीका चला आया है। अतः लन्दन और पेरिस मूर्तियों से बने मन्दिर बन रहे हैं। पेरिस में लूव्र अजायबघर की छत पर सैकड़ों मूर्तियाँ बराबर-लगाई गई हैं। मानो वे पत्थर की शक्लें अपने वंशों के कारबार को प्रेम-भरी दृष्टि से देख रही हैं। लन्दन में प्रत्येक पग पर किसी महापुरुष की मूर्ति दिखलाई पड़ती है। मानो हर

गली में जातीय इज्जत का चौकीदार खड़ा है। एल्बर्ट की स्मृति में एक बड़ा ही शानदार मकान बनाया गया। और नेपोलियन का मक़बरा पेरिस में एक देखने योग्य वस्तु है।

( ४ ) बच्चों के नाम रखना—जाति अपने मकानों और बाजारों को महापुरुषों के नाम से पवित्र करती है, तो क्या अपने प्यारे बच्चों को, जो उसकी सब से बड़ी सम्पत्ति हैं, इस आशीर्वाद से वञ्चित रख सकती है ? प्रत्येक जाति अपने बच्चों को वे नाम देती है, जिनका जीवित रखना उसका कर्तव्य है। मानों हमारे बच्चे उत्पन्न होते ही जातीय इतिहास में भाग लेने वाले बन जाते हैं। और यद्यपि अभी तुतलाना भी नहीं सीखा, तो भी चुपचाप जातीय प्रतिष्ठा को प्रकट करते हैं। क्यों न हो; इतिहास उन्हीं की तो बपौती है। जो कुछ बुजुर्गों ने कमाया था और जो कुछ हमने प्राप्त किया है, सब उन्हीं के लिए है, और किसके लिए है ?

( ५ ) पाठशालाओं में शिक्षा—पहले सभ्य जाति बच्चों को पाठशालाओं में अपना इतिहास सिखाती है और उसको रोचक बनाती है। महापुरुषों के चित्र उसमें लगाती है। देश-भक्तिपूर्ण कविताएँ पढ़ाई जाती हैं।

( ६ ) कवियों की वाणी—जब कोई कवि क़लम लेकर बैठता है, तो वह बहुधा महापुरुषों की गाथा सुनाता है। जातीय इतिहास के अगणित आकर्षक दृश्य, जातीय सूरमाओं के कारनामे, जातीय अस्तित्व और उन्हीं के लिए प्रयत्नों की कथाएँ, ये सब उसकी आँखों में फिरती हैं और उसकी जिह्वा को पावन शक्ति प्रदान करती हैं:—

बैठे हैं तनूरे तबा को जब गर्म करके मीर,
कुछ शीरमाल सामने कुछ नान कुछ पनीर।

जातीय इतिहास की सैकड़ों कथाओं में से कोई फड़कती

हुई कहानी कह डालता है और जाति को सदा के लिये अपना प्रेमी बना जाता है।

( ७ ) इतिहास विद्या के विद्वानों की सहायता—प्रत्येक युनीवर्सिटी ( विश्वविद्यालय ) में कई प्रोफेसर ( शिक्षक ) होते हैं, जो इतिहास के अध्ययन में लगे रहते हैं; और जाति को अपनी जानकारी से लाभ पहुंचाते हैं। वे दिन-रात परिश्रम करते हैं और जातीय इतिहास के सम्बन्ध में छान-बीन और अन्वेषण करने में संलग्न रहते हैं।

---

# हिन्दुओं का सामाजिक पतन

अपने शासन को चिरस्थायी बनाना प्रत्येक जाति का मुख्य उद्देश है। इस उद्देश की सिद्धि के लिये सामाजिक विजय का प्राप्त करना अति आवश्यक है। जब एक जाति दूसरी जाति पर राजकीय विजय प्राप्त कर लेती है तब सामाजिक विजय स्वतः शनैः २ प्राप्त हो जाती है। राजकीय बल की वृद्धि सेना की शक्ति और उसके प्रयोग की दक्षता पर निर्भर है। किन्तु सामाजिक विजय का और ही नियम है। उसके मार्ग का आविष्कार धीरे धीरे होता है। बन्दूकों और शिक्षित सेनाओं से उसे कोई सहायता नहीं मिलती। सिकन्दर और चंगेजखां ने भी केवल बल से किसी जाति पर सामाजिक विजय में सफलता नहीं पाई। सेना किसी क्षीण जाति के सङ्गठित शारीरिक बल को अवश्य हानि पहुँचा सकती है, वह बड़े-बड़े दुर्गों को पृथ्वी से मिला सकती है, और विपक्षी की निर्बल सेना को तितर बितर कर सकती है। परन्तु इसकी सहायता से विजयी लोग अपनी प्रजा की आत्मा और मन पर अपना प्रभुत्व नहीं जमा सकते। शासक जाति यदि प्रजा पर सामाजिक

विजय पाना चाहती है तो उसे खड्ग के महत्व का ध्यान चित्त से निकाल देना चाहिये। क्योंकि इस कार्य में उसकी सहायता से हानि के सिवा कोई लाभ नहीं। जो मनुष्य इस बात का मर्म समझते हैं कि एक जाति दूसरी जाति पर किस प्रकार शासन कर सकती है और अपना प्रभुत्व जमा सकती है वे सामाजिक विजय की आवश्यकता को भी शासन के पुष्ट और चिरस्थायी बनाने के लिये भली भांति अनुभव करते हैं।

जब तक किसी देश के निवासी लोभ में पड़कर जात्याभिमान और धार्मिक प्रेम को भुला नहीं देते, तब तक वे अपनी स्वाधीनता—जो मनुष्य का आजन्म अधिकार है—खो नहीं सकते। आत्मबल की क्षीणता के कारण विदेशी शासकों के मार्ग में कोई कठिनाई नहीं पड़ती। उस व्याधि को अँकुरित देखकर वे उसको बढ़ाने का उद्योग करते हैं। प्रोफेसर सीली का कथन है कि विदेशी शासन आत्म-बल के नाश का मुख्य कारण होता है। वास्तव में आत्म-बल की क्षीणता विदेशी राज्य का कारण और परिणाम दोनों है।

सामाजिक विजय राजकीय विजय का आवश्यक अङ्ग है। उसकी सहायता से पराधीन जातियों का मनुष्यत्व नाश हो जाता है और तब विदेशी राज्य को चिरस्थायी रूप में वह स्वीकार कर लेती है। यदि शताब्दियों तक विदेशी शासन में रहकर भी कोई जाति आत्म-सम्मान और गौरव को जीवित रखती है तो वह अवश्य कभी न कभी अपनी प्राचीन स्वतंत्रता फिर प्राप्त कर लेगी। उस वीर जाति की स्वतंत्र आत्मा कभी न कभी जोश में भर कर संसार की ओर दृष्टि उठाकर देखेगी और अपनी स्थिति को सम्यक् प्रकार से विचार लेगी। पराधीन मनुष्यों का सबसे बड़ा धर्म यह है कि आत्मभिमान रूपी अग्नि की रक्षा यथाशक्ति करें, नहीं तो विदेशी शासन के

प्रभाव से वह शनैः शनैः सर्वदा के लिये शान्त हो जायगी। स्वतंत्र मनुष्यों के स्वच्छन्द विचारों को धीरे धीरे नाश करके उन्हें दास बना देना विदेशी शासन का सहज और अनिवार्य परिणाम है। जाति से जीवित चिन्हों का नाश हो जाना ही उसका मृत्यु है और जाति को इस प्रकार प्राण-हत कर देना ही सामाजिक विजय का चरम उद्देश्य है। पतित जाति का शस्त्र अपने जाति-गौरव की रक्षा करना है। विजयी लोग सर्वदा शिक्षा देंगे कि उनकी प्रजा नीच है। उनकी शासन पद्धति को देख कर हमारे हृदयों में भी उनकी बात का प्रभाव पड़ेगा। इससे विदेशी राज्य के कुपरिणामों के सुधारने अथवा उनसे बचने की आशा करने के पहिले अस्वतंत्र जाति को चाहिये कि वह सामाजिक विजय के विरोध का यत्न करे।

राजकीय विजय इस बात को डंका बजाकर घोषणा करती है कि जीती हुई जाति पराजित जाति से चढ़ी बढ़ी है। संग्राम प्रकृति के महा विश्वविद्यालय का परीक्षा है। किसी युद्ध का अन्तिम परिणाम एक या दो मैदानों पर निर्भर नहीं, किंतु दोनों जातियों की सामाजिक स्थिति पर निर्भर है। सांग्रामिक विजय से केवल बल की महत्ता ही नहीं मालूम होती, किंतु यह जाति की महत्ता का भी बड़ा भारी चिन्ह है।

हारी हुई जाति इसको भली भांति समझती है। वह अपनी आत्मा को डूबी हुई देखती है और सब उद्योगों को निष्फल समझ कर छोड़ देती है। आशा, धैर्य, आत्मविश्वास सभी शनैः शनैः उसे परित्याग कर देते हैं। वह अपने को शासक जाति के बराबर नहीं समझती और उसके विचार में यह बैठ जाता है कि दोनों जातियों में बड़ा भारी प्राकृतिक अन्तर है। इस प्रकार सोचते सोचते वह अपनी आत्मा को निर्जीव कर लेती है। बड़े-बड़े अक्षरों में लिखे हुये इतिहास के शब्दों को

वह किस तरह भुला सकती है :—"Thou hast fought and failed. Thou hast put forth thy greatest strength and has been overcome. Thou hast tried to do thy best and that best not availed thee"

"तू लड़कर भी संग्राम में हार गई। सम्पूर्ण बल की आहुति देने पर भी तुझे असफलता प्राप्त हुई। तूने यथाशक्ति कोई बात उठा नहीं रक्खी किंतु वह भी काम न आई।" ऐसे स्पष्ट वाक्यों से नेत्रों का बन्द कर लेना बेचारी पराजित जाति के लिये कैसे सम्भव है। इन विचारों से जब साहस का नाश हो गया तब फिर ऐसी असाहसी जाति से भविष्य में क्या आशा की जा सकती है। जब स्वतंत्रता और स्वगृहाधिकार प्राप्त थे तब तो उसने अपने समाज को जीवित रखने के लिये कोई उद्योग न किया। तो फिर विदेशी शासन के अन्धकारमय दिनों में नियमों की शृङ्खला में बद्ध होकर, पुलिस, गुप्तचर, सेना, छावनी और कारागार इत्यादि के भय से अपने को अधिक कांतिमान बनाने की कैसे आशा कर सकती है। ये विचार उसकी आत्मा का नाश कर देते हैं।

हारी हुई जाति इस प्रकार शासक जाति का महत्व जान लेती है। इसे समझाने के लिये उसे किसी की आवश्यकता नहीं। प्राचीन समय के उसके गौरव की उच्चता के प्रमाण चाहे कितने स्पष्ट रूप से इतिहासों में अङ्कित हों, किंतु प्रत्यक्ष प्रमाण की सत्यता से वह लज्जित हो किसी पर विश्वास नहीं करती। देखना ही विश्वास करना है। किसी व्यक्ति के मन पर तर्क की अपेक्षा वर्तमान अनुभव अधिक प्रभाव डालता है।

पतित जाति के नेताओं हितैपियों के सम्मुख ये बड़ी कठिन समस्यायें हैं:—प्रत्यक्ष प्रमाण और प्रकृति के ऊपर विजय कैसे प्राप्त हो, जाति गौरव और आत्म-सम्मान की किस प्रकार

रक्षा हो, जाति के थोड़े बहुत शेष आत्मबल की रक्षा किस प्रकार की जाय और फिर उसे उस शिखर तक पहुँचाना जहां तक कि वह पहुंच सकती है कैसे सम्भव है ? रोगी आसन्न मृत्यु है। आत्म-बल रूपी रक्त, जो कि असंख्य द्रव्य के नाश से भी अधिक भयोत्पादक है निरन्तर निकल रहा है। क्षति की पूर्ति किस प्रकार की जाय और आत्म-बलरूपी रक्त के निरंतर स्रवण का प्रतिरोध किस प्रकार किया जाय ? यही जाति के मनुष्यत्व की क्षीणता है। प्रत्येक जाति सुवर्ण और रत्न इत्यादि के क्षय की पूर्ति सरलता से कर सकती है। किन्तु जो जाति निज गौरव और आत्माभिमान को त्याग चुकी है वह सांसारिक वैभव को फिर नहीं प्राप्त कर सकती। क्योंकि उसने अपना चरित्र, आत्मा और जीवन सभी खो दिया। मृतक जगत के सुख और वैभव के भोक्ता नहीं हो सकते।

सामाजिक विजय-आत्म-बल की हीनता को बढ़ाने का एक साधन है। और फिर शासक जाति को प्रतिदिन के व्यवहार में अपनी अस्वतंत्र प्रजा पर अपना सामाजिक महत्व दर्शाने का अवसर मिलता है। यदि वे केवल शासन करना, कर वसूल करना, नियम बनाना और उनमें परिवर्तन करना इत्यादि को ही अपना कार्य समझते हैं तो वे प्रजा के चिरस्थायी स्वामी नहीं हो सकते। अपनी स्थिति को पुष्ट करने और अपने को वास्तविक शासक बनाने के लिये आधिपत्य के अतिरिक्त और भी कुछ आवश्यक है। राज्य खड्ग द्वारा प्राप्त किया जाता है। किन्तु उसकी रक्षा करने और उसे चिरस्थायी बनाने के लिये और ही बातों की सहायता लेनी पड़ती है। तलवार के स्थान में अन्यान्य अधिक शक्तिशाली शस्त्र प्रयोग में लाये जाते हैं। ये प्रत्यक्ष में इतने कठोर नहीं मालूम होते। किन्तु जाति के निर्मूल करने के लिए ये कठोर से कठोर शस्त्रों से भी तीक्ष्णतर

है। शस्त्र केवल विजय प्राप्त करने में सहायता देते हैं। किन्तु जाति का नाश करना उनकी शक्ति के परे है। वे भौतिक शरीर का वध कर सकते हैं किन्तु आत्मा को मार नहीं सकते। सारांश यह कि राजकीय विजय जाति को शृङ्खलित कर सकती है किन्तु उसे नम्र नहीं बना सकती। यह बात केवल सामजिक विजय से प्राप्त हो सकती है। यह एक महान् कार्य है। भारतवर्ष के इतिहास में इसका एक अत्यन्त सरल उदाहरण पाया जाता है।

यह कहा जाता है कि दक्षिण भारत के पारिया लोग प्राचीन भारत की सन्तान हैं जिसे आर्य लोगों ने परास्त किया था। यह भी स्पष्ट है कि दक्षिण में बसने वाले आर्यों की संख्या अनार्य लोगों की अपेक्षा कहीं न्यून है। आर्य लोग बड़े वीर थे; उनमें सामाजिक एकता थी और उनके पास अच्छे अच्छे शस्त्र भी थे। दक्षिण में आक्रमण कर उन्होंने काले नायकों को परास्त किया। वे संग्राम की रीतियों से अनिभज्ञ और मूर्ख थे, स्वार्थ साधन के लिये कभी कभी शत्रुओं की ओर भी जा मिलते थे। संख्या में न्यून होने पर भी आत्मिक और शारीरिक बल की श्रेष्ठता के कारण एक जाति ने दूसरी पर आधिपत्य प्राप्त किया। किन्तु ब्राह्मणों के सम्मुख पारिया लोग मार्ग में साष्टाङ्ग-प्रणाम क्यों करते हैं और जब ब्राह्मण उनके निकट जाता है तब वे अपनी नीचता दर्शा कर तुरन्त उठकर क्यों अलग खड़े हो जाते है? ऐसा कोई कानून भी नहीं है कि जिसके कारण पारियों के लिए इस प्रकार की हीनता दिखलाना आवश्यक हो। यदि वे उस जाति के प्रतिनिधि को, जिसने उन्हें परास्त किया है प्रणाम न करें और अपनी हीनता स्वीकार न करें तो उन्हें ब्रिटिश न्यायालय द्वारा कोई दण्ड नहीं दिया जा सकता। ब्राह्मण को एक पारिया बड़ी सरलता से युद्ध में परास्त कर सकता है। किन्तु

तो भी यह एक बड़ा अद्भुत और आश्चर्यजनक दृश्य जान पड़ता है जब सैकड़ों पारिया जो देखने में बड़े पुष्ट मालूम होते हैं एक दरिद्र और निर्बल ब्राह्मण के सम्मुख मार्ग में झुक झुक कर प्रणाम करते हैं। यद्यपि वे ऐसा करने के लिए इस बीसवीं शताब्दी में किसी नियम से बद्ध नहीं हैं। पारिया लोग यदि चाहें तो मिल कर ब्राह्मण देवता की मरम्मत कर दें। क्योंकि ब्राह्मण किसी प्रकार से उनकी धृष्टता का दण्ड नहीं दे सकते। परन्तु पारिया लोग ऐसा नहीं करते। वे अब भी, जब उनको किसी बात का भय नहीं है ब्राह्मणों का महत्व अस्वीकार करने के लिये प्रस्तुत नहीं हैं। पारिया समुदाय एक ऐसे व्यक्ति को प्रणाम करता है जो नाम में नहीं किन्तु वास्तव के अवश्य शूद्र है। इसका क्या कारण है? यह हम लोगों के सम्मुख एक कठिन प्रश्न है। सर हेनरी काटन के निम्न लिखित उदाहरण से इस प्रश्न के समझने में बड़ी सहायता मिलेगी। उनका कथन है—( New India page 141—142, 1st Edition )

"जब मैं पहिले भारतवर्ष में आया तब एक बार एक ब्राह्मण सेवक के साथ सायङ्काल घूमने निकला। हम लोगों को जितने हिन्दू मिले उन्होंने मुझे इस प्रकार से प्रणाम किया जैसे कोई अपने अफसर के प्रति करे, किन्तु मेरे साथी के सामने वे पृथ्वी पर गिर गिर कर अपना मस्तक रगड़ते थे। ब्राह्मण को प्रणाम करने की इच्छा उनके हृदय में बड़ी प्रबल थी। मेरे लिये वे केवल कृत्रिम व्यापार दर्शाते थे। प्रत्यक्ष में हम लोगों की स्थिति में इतना अन्तर होने पर भी सामाजिक स्थिति के प्रभाव से वे लोग मेरी अपेक्षा मेरे सेवक को बड़ा समझते थे। इस दृष्टान्त से मेरे चित्त पर बड़ा असर पड़ा।"

सर हेनरी काटन को अवश्य मालूम हुआ होगा कि वास्तव

में शासन करने वाले वह नहीं थे किन्तु ब्राह्मण था। वह केवल अफसर थे किन्तु ब्राह्मण प्रजा के मन का स्वामी था। ब्राह्मण की स्थिति पुष्ट थी। उसका प्रभुत्व सरलता से नहीं डिगाया जा सकता। सर हेनरी काटन को ब्राह्मण की उस अवस्था पर द्वेष अवश्य उत्पन्न हुआ होगा। क्योंकि वह एक अल्प वेतन पर काम करने वाला सेवक मात्र था।

अब हम को यह बतलाना है कि प्राचीन काल में ब्राह्मणों ने किस प्रकार अपना प्रभुत्व सर्वदा के लिये स्थापित कर दिया। यदि भारतवर्ष के लिये ब्रिटिश सरकार की आधुनिक नीति के तत्व को हम जानना चाहते हैं तो हमें उन ब्राह्मणों के कार्यों को अवश्य समझना चाहिये। इतिहास में वही बातें एक बार फिर लिखी जायेंगी। सहस्त्रों वर्ष पूर्व वाली हमारी बुद्धि हमारे ही ऊपर दूसरी जाति द्वारा आज प्रयोग की जाती है। यह स्पष्ट है कि सामाजिक विजय की पूर्ति के लिये बल की आवश्यकता नहीं, उसके प्रयोग से इसे कुछ भी सहायता नहीं मिलती। यह कार्य अधिकतर बुद्धि सन्तोष, आत्मसाधन और दूरदर्शिता से पूरा होता है। सामाजिक और संग्रामिक विजय की प्रणाली में बड़ा अन्तर है। सामाजिक विजय कहीं अधिक कठिन है, एक या दो मुठभेड़ों से इसकी सफलता सम्भव नहीं। इसके विपक्षी लोगों को लक्ष्य का तोड़ना बिलकुल असम्भव है। यह वह बूटी है जिसे पराधीन जाति खाकर घोर निद्रा में पड़ जाती है। यह धीरे धीरे अचेत कर देने वाला महान् विष है। यद्यपि यह तत्क्षण नाश नहीं करता तथापि जाति की आत्मा को निर्बल कर देता है।

सामाजिक विजय के लिए इन तीन बातों की आवश्यकता होती है:—

( १ ) प्रजा के सब सामाजिक आन्दोलनों को अपने वश में

कर लेना खास कर उन संस्थाओं को जिन पर सामाजिक जीवन निर्भर है।

( २ ) एक ही प्लेटफार्म पर जहां शासक और प्रजा दोनों सम्मिलित हों, विषमता दर्शन।

( ३ ) प्रजा में से इस प्रकार के मनुष्यों का एक दल तैयार करना जो शासकों के साथ इस प्लेटफार्म पर सम्मिलित हो और वहां अपनी हीनता स्वीकार करे।

ये तीन बातें यदि सिद्ध हो गईं तो समझना चाहिए कि शासक जाति को अपने कार्य में सफलता प्राप्त हो गई। प्राचीन काल के ब्राह्मण दूसरों को अपनी इच्छानुसार नम्र बनाने में बड़े दक्ष थे। आत्मवश करने के पूर्व ही वे विदेशियों को नम्र बना सकते थे। अब देखिये उन्होंने किस प्रकार अपना कार्य सिद्ध किया। उन्होंने पहले प्रजा की सब संस्थाओं को स्वाधीन कर लिया और फिर सबको पढ़ाया और उनके गुरू बने। औषधि करने की विधि भी केवल ब्राह्मण ही यथार्थ में समझते थे अतः थे वैद्य भी बने। जब कोई मनुष्य रोगग्रस्त होता तब वह ब्राह्मण ही का स्मरण करता था और उसी की प्रशंसा उसके मुख से सुनाई पड़ती थी। धीरे धीरे पुरोहित और मन्त्रित्व इत्यादि सभी उच्च कार्य ब्राह्मण करने लगे। ब्राह्मणों के बिना किसी का पाणिग्रहण अथवा मातृपिण्ड की दाह क्रिया कुछ भी नहीं हो सकती थी। ज्योतिषविद्या के ज्ञाता भी केवल ब्राह्मण ही थे उनके बिना पूंछे कोई यह भी नहीं जानता था कि आज महीने का कौनसा दिन है। इस प्रकार से सब सामाजिक व्यवसाय उनके वश में आ गये। उनके बिना कोई कुछ काम नहीं कर सकता था। जीवन के सभी कार्यों में उनकी सहायता आवश्यकीय थी। विद्या ही बल है इस बात की सत्यता को ब्राह्मणों ने अच्छी तरह समझा था।

शनैः शनैः पुरोहित, गुरू, वैद्य, नैयायिक और तत्वज्ञानी इत्यादि सभी ब्राह्मण ही बन बैठे। उन्हीं को लोग समाज में कुछ कर दिखाने वाला समझते थे। जिस प्रकार मस्तिष्क शरीर का सर्वोत्तम अंग है और शेष अवयव उसी के विचारानुसार काम करते हैं उसी तरह ब्राह्मण भी समाज के मस्तिष्क बन गये।

जनता पर राज्य करने के लिए ब्राह्मणों को सेना की आवश्यकता न थी। क्योंकि लोग ब्राह्मणों के प्रति नम्रता की मात्रा बढ़ाते बढ़ाते अपने को दासवत् समझने लगे थे। वे इस बात को बिलकुल भूल गये थे कि ब्राह्मण ने किस प्रकार उस स्थान में आकर उनके पूर्वजों को पराजित किया था। ब्राह्मण का प्रभुत्व सब के चित्त में जम गया। ब्राह्मणों से स्थानच्युत किये हुए पुराने सामाजिक नेताओं को लोग भूल गये। उनके पुत्र और पौत्रों को ब्राह्मणों का आधिपत्य मानना पड़ा। ब्राह्मणों की बुद्धिमत्ता, उदारता और पूजनीयता का ध्यान करके उनका सेवक बनने में पारिया लोग अपना बड़ा मान समझते थे। इस प्रकार पारिया जाति का गौरव स्वतः क्षीण हो गया और अन्त में समय की परिवर्तनशीलता के कारण धीरे धीरे नाश हो गया। ब्राह्मण की धूम मच गई। वे सब को अपनी विद्या सिखाने लगे और धार्मिक नियमों का उपदेश देने लगे। जातीय स्वतन्त्रता का विचार प्रजा के हृदयों से उन्होंने बिलकुल निकाल दिया। इस प्रकार शत्रु जाति के बालक ब्राह्मणों के शिष्य हो गये और उनकी शरण आगये। विजयी ब्राह्मणों ने सरलता से अपने को इन शरणागत रोगियों का स्वामी और नेता बना लिया। इस प्रकार सामाजिक विजय पूर्णरूप से प्राप्त हो गई और पारिया जाति पर ब्राह्मणों का शासन सर्वदा के लिये स्थापित हो गया।

सफलता के दो अन्य अंगों के कारण ब्राह्मणों को अपने कार्य में बहुत सहायता मिली। उन्होंने कथा पढ़ना प्रारम्भ कर दिया। कथा के सुनने वालों को वे पारतोषिक या प्रसाद देते थे। जो मनुष्य वहाँ कथा सुनने न जाते थे ब्राह्मण लोग उनका आदर नहीं करते थे। धीरे धीरे ब्राह्मणों ने वह प्लेट-फार्म भी तैयार किया जहां दोनों जातियां असमनता दर्शाने के लिए सम्मिलत हों। इस प्रकार उन्होंने पूर्णरूप से सामाजिक विजय प्राप्त करली।

वर्तमान कठिनाइयों को पार करने लिये हमें अपने पूर्वजों की बुद्धि का अवलम्बन करना पड़ेगा। बलवान होने के कारण उन्होंने विपक्षियों पर ये खेल खेले थे। किन्तु हम लोग निर्बल हैं। अतः आत्मरक्षा करना ही हम लोगों का मुख्य कर्तव्य है। अतएव यह देखना चाहिये कि ब्रिटिश लोग हिन्दुओं पर किस प्रकार सामाजिक विजय प्राप्त करने का यत्न कर रहे हैं। उनकी सहायता के लिये उक्त तीनों बातें उपस्थित हैं।

(१) सब आन्दोलनों को वश में कर लेना—शिक्षा के लिये साधारण स्कूल और कालेज, मेडिकल कालेज, कानून कालेज, औषधालय, डाकघर, रेल, तार आदि।

(२) एक ऐसे प्लेटफार्म का उपस्थित करना जिसमें शासक और शासित जातियाँ सामाजिक असमानता दर्शाने के लिए एकत्रित हों—लेजिस्लेटिव कौंसिल, दर्बार, कचहरी, म्युनीसिपेल बोर्ड, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड आदि।

(३) इस प्रकार के मनुष्यों का एक दल उत्पन्न करना जो सामाजिक विषयों में असमानता स्वीकार करने के लिए तत्पर हों—अंगरेजी पढ़े हुए व्यक्ति, मेम्बर, दरबारी आदि।

इससे यह ज्ञात होता है कि यन्त्र तो पूरा उपस्थित है।

किन्तु यह देखना चाहिए कि इसका कार्य कैसे होता है।

(१) ब्रिटिश लोगों ने सामाजिक विजय की पूर्णता के लिए हिन्दू समाज के सभी आन्दोलनों के नेतृत्व अपने हाथ में ले लेने अथवा उनपर प्रभाव डालने का यत्न करना आरम्भ कर दिया है।

शिक्षा--उन्होंने स्कूल और कालेजों को स्थापित किया है जहां हमारे बालक उनसे साहित्य, विज्ञान और दर्शन इत्यादि पढ़ने जाते हैं। अंगरेजों के आने के समय जो शिक्षा प्रणाली प्रचलित थी धीरे धीरे नाश हो गई। ब्राह्मणों के हाथों में होने के कारण उससे उनका कोई कार्य न सिद्ध होता था और फिर उससे स्वजातीय विद्या और इतिहास का भी ज्ञान होता था; जिसके कारण जाति के आत्मत्व का ध्यान सभी बालकों में उपस्थित रहता था। प्राचीन शिक्षा प्रणाली गुरु का स्थान ब्राह्मणों को प्रदान करती थी। किन्तु ब्रिटिश लोग उस स्थान को स्वयम् चाहते थे। एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकती हैं। इस शिक्षा विभाग के संसार में दो दलों के लोग राज्य नहीं कर सकते। इस लिये ब्राह्मण शनैः शनैः अपने स्थान से हटते जाते हैं और ब्रिटिश लोग उनके स्थान में पहुँचते जाते हैं।

औषध विभाग—डाक्टरी के मुकाबले में आयुर्वेद को नीचा स्थान दिया जाता है। सन् १८३१ ई० की पब्लिक इन्स्ट्रक्शन रिपोर्ट बड़ी प्रसन्नता से लिखती है कि युरोपीय डाक्टरी आयुर्वेद को धीरे धीरे हटा रही है।

प्रत्येक नगर में एक सिविल सर्जन रहता है। वह अपने को सब से गुणी समझता है और हममें से कुछ लोग उसकी बात को सच मान लेते हैं। बहुत से हिन्दू एसिस्टेंट सर्जन उसके शिष्य हैं। जब उनको कोई कठिनाई पड़ती है तब वे उसी के पास पूछने जाते हैं। अस्पतालों का चलाना उसी का

काम है। रोगियों को वह सबसे बड़ा वैद्य समझ पड़ता है। और भी कोई डाक्टर यदि किसी को अच्छा करते हैं तो भी प्रशंसा उसीकी होती है। क्योंकि वे तो केवल उसके शिष्य समझे जाते हैं। धीरे धीरे हिन्दू विद्वान् वैद्यों की संख्या कम होती जाती है।

धर्म—हम लोगों का धर्म ही केवल विदेशी प्रभाव से अभी तक बचा है, और यही हम लोगों का अन्तिम आश्रय है। सामाजिक विजय के सब अच्छे अंगों को ब्रिटिश लोगों ने अपने अधीन कर लिया है। किन्तु धर्म अभी विदेशी पंजे में नहीं आया। हां यह अवश्य है कि उसको भी विजय करने के लिये सफरमैना की पल्टन प्रस्थान कर चुकी है। यह दो प्रकार का काम करती है।

(अ) 'बहिरंग से हिन्दू जाति का नाश करना—सरकार सब मतमतान्तरों के साथ समानता का व्यवहार करती है। किन्तु हिन्दू जाति अपने मत को छोड़ने पर शीघ्रता के साथ तत्पर नहीं होती। अतः उसे अवश्य दुःख उठाना पड़ेगा। हम लोग दूसरे मत वालों को अपनी जाति में नहीं मिला सकते। किन्तु सरकार ईसाई मत को आज्ञा देती है कि वे हमारे बालकों को ईसाई बना लें। इन हालतों में हम लोग समानता के आधार पर नहीं लड़ सकते हैं। इसके अतिरिक्त सरकार की स्थापित शिक्षा प्रणाली से हिन्दू धर्म की नींव निर्बल होती जाती है। इस परिणाम को आधुनिक शिक्षा प्रणाली के स्थापक ब्रिटिश लोग पहिले से समझते थे। बम्बई प्रान्त के पहिले गवर्नर माउंट स्टूअर्ट एलफिंस्टन् ने सन् १८२३ में लिखा था:—

"शासकों और शासितों में पूर्ण पृथकता होने के कारण हम लोगों की गवर्नमेंट दृढ़ नींव पर स्थित नहीं। इसके अतिरिक्त भारत के निवासी अपने धर्म के बड़े पक्के हैं, उन्हें अपने

धर्म का बहुत ख्याल रहता है; जरा-जरा सी बातों में वे अपने धर्म का अड़ङ्गा लगा देते हैं और उन्हें सदा इस बात का भय बना रहता है कि ऐसा न हो कि कहीं हमारा धर्म चला जाय। इस कारण हम लोग (अङ्गरेज) सदा खतरे में रहते हैं। परन्तु परन्तु इस खतरे को किसी न किसी उपाय से दूर करना ही चाहिये। मेरी सम्मति में इसका एक मात्र उपाय यही है कि युक्तिपूर्ण लौकिक (अर्थात् अधार्मिक) शिक्षा के द्वारा हम लोगों को अपने सिद्धान्त तथा विचारों का प्रचार इन लोगों में कर देना चाहिए और इनके चिरपोषित संस्कारों को मिटा देना चाहिए।"

इसी प्रकार के और बड़े बड़े अफसरों की सम्मति इस विषय में लिखी जा सकती है जिससे सिद्ध होता है कि सरकार ने स्कूलों और कालेजों को स्थापित करते समय हिन्दू जाति की उन्नति अथवा अवनति पर बिलकुल ध्यान न दिया था। सन् १८५३ में सर चार्लस ट्रवेलियन ने हाउस आफ लार्ड में गवाही देते समय कहा था:—

"हम लोग जो कुछ कर रहे हैं वह प्राचीन हिन्दू धर्मावलम्बियों के प्रति निरर्थक अड़ङ्गा की लड़ाई नहीं है किन्तु हम उन्हें एक ऐसी कुञ्जी दे रहे हैं जिससे वे उच्च शिक्षा का भण्डार अपने लिए खोल सकते हैं। इसका प्रथम परिणाम यह होगा कि प्राचीन प्रणाली का प्रभाव उनके चित्त से बिलकुल नष्ट हो जायगा। अधिकांश में हिन्दू लोग उसे जानते भी नहीं। इस बात की सत्यता में कुछ भी सन्देह नहीं कि इस समय के बालक कुछ ही वर्षों में भावी जाति का रूप धारण कर लेंगे। यदि जाति के चरित्र में हम लोग किसी प्रकार का प्रभावशाली परिवर्तन करना चाहते हैं तो हमें बालकों पर ध्यान देना चाहिए और उनको जिस मार्ग में हम चलाना चाहते हैं उसी प्रकार की शिक्षा देनी चाहिए। तभी हमारे धन का व्यय पूर्ण रूप से

सार्थक होगा। उस समय हमें उनके कुसंस्कारों से विरोध करने की कोई आवश्यकता न रहेगी। तब हमें नर्म विचार वाले लोगों से व्यवहार करना पड़ेगा। धीरे-धीरे हम लोग ऐसे प्रभावशाली और बुद्धिमान् नवयुवकों की काफी संख्या तैयार कर लेंगे जो कुछ वर्षों के पश्चात् हमारी प्रणाली के प्रचलित करने का कार्य स्वयम् करने लगेंगे और हमारी सहायता की उनको बहुत कम या बिलकुल ही आवश्यकता न पड़ेगी।"

(ब) हिन्दू धर्म का अन्तरङ्ग से वशीभूत करना—अधिक समय नहीं हुआ कि कतिपय अङ्गरेज युवक और युवतियां हिन्दू धर्म के पवित्र प्रचारक बन कर हिन्दुस्तान में आ बसी हैं। हमारे पवित्र शास्त्रों की वे शिक्षा देते हैं और हमारे धर्म पर बड़ा प्रेम दिखाते हैं। उनमें से बहुतों को सरकार से सहायता भी मिलती है क्योंकि वे एतद्देशीय राजाओं के पास जाकर घण्टों तक एकान्त में बातचीत कर सकते हैं। एक अङ्गरेजी महिला जिसका पता ठिकाना कोई नहीं जानता है, किस प्रकार से हमारे राजाओं की विश्वासपात्री और मन्त्र-दात्री हो सकती है यदि हमारी सरकार को उस पर किसी प्रकार का सन्देह हो।

अब देखिये कि किस प्रकार से एक अङ्गरेज स्त्री हिन्दू धर्म धुरन्धरों और काशी के सुप्रसिद्ध पण्डितों की सभानेत्री बन गई। ये लोग हर्षपूर्वक उसे प्रणाम करते हैं। इस प्रकार की नीचता दर्शाना ही अस्वतन्त्र जाति के लिए सामाजिक पतन का चिन्ह है और शासकों की सामाजिक विजय की पताका है। हम लोगों में से कुछ लोग अङ्गरेज पुरुष और स्त्रियों को प्राचीन पुरोहितों की भांति समझते हैं। इस शोक-जनक दृश्य को देखिये और इसके भयोत्पादक परिणामों पर ध्यान दीजिए। यह हिन्दू जाति की मृत्यु का समय है!

गुरु और शिक्षक बन कर शासक जाति के प्रतिनिधियों ने हमारे जनाने में भी प्रवेश कर लिया है। मेम अध्यापिका के चरणों के पास हिन्दू बालिकाओं के पाठ पढ़ने का शब्द सामाजिक विजय घोषणा के अतिरिक्त और कुछ नहीं। इस दृश्य को देखकर प्रत्येक मनुष्य के ध्यान में यह अवश्य आ जाता होगा कि इतिहास हमारी जाति के मृतक शरीरों को श्मशान भूमि में लिये जा रहा है जहां जाकर हमारा फिर कोई स्मरण न करेगा। और ये कन्यायें शोकग्रस्त होकर धीरे धीरे 'राम राम सत्य है, का शब्द उच्चारण कर रही हैं।

हिन्दुओं में इस बात को तत्वतः समझने वालों की मृत्यु है। जो लोग स्वयं कुछ नहीं समझ सकते उनको चाहिये कि अपने धर्म के विपक्षियों के वाक्यों ही से कुछ लाभ उठावें। ईसाई मत प्रचारक मि० जे० एन० फरकुहार जिन्हें वास्तव में हिन्दू मत का विपक्षी समझना चाहिये अपने समय के पत्र में लिखते हैं :—

'इस सङ्गठन ( अर्थात् हिन्दू मत ) का नेता और सञ्चालक ब्राह्मण नहीं है और न कोई हिन्दू है किन्तु एक विदेशी स्त्री है। यह कैसी अनहोनी बात है कि वर्णाश्रम धर्म का नेता कोई विदेशी स्त्री हो।' यह केवल आश्चर्यजनक बात नहीं किन्तु इसका अर्थ कुछ और ही है। इस बात की सत्यता में सन्देह नहीं कि शत्रु अब दुर्ग के भीतर पहुँच गया।

मिसेज़ बिसेण्ट तथा अन्य युरोपियनों का हिन्दुओं के धार्मिक जीवन को अपने वश में कर लेना और उसे अपनी इच्छानुसार चलाने का उद्योग करना सामाजिक विजय का अन्तिम चिन्ह समझना चाहिए।

बहुत सम्भव है कि "हिन्दू धर्म के ये मित्र" अपने को सच्चे, परोपकारी समझ कर अपने कार्य को करते हों। किन्तु

यह बात हम लोगों को विचारना चाहिए कि इसका परिणाम क्या हो रहा है। उन्होंने जो थोड़ी बहुत सफलता प्राप्त की है वह इस बात को सूचित करती है कि हिन्दू जाति पर युरोपियनों ने सामाजिक विजय प्राप्त कर ली है। इसके अतिरिक्त और उनके परिश्रम का क्या परिणाम हो सकता है? अंगरेज राजकर्मचारी ब्राह्मणों, वैद्यों और अध्यापकों इत्यादि को अपने उच्च स्थानों से हटाने का भरसक प्रयत्न कर रहे हैं और अन्य अंगरेज जो सरकारी सेवक नहीं हैं धर्म नेता, गुरू और ऋषि बन बन कर उन स्थानों पर डटते जा रहे हैं। जिस दिन ब्रिटिश अध्यापक, वैद्य और पुरोहित बन कर सारे देश में फैल जायेंगे और भारतवासी इन पदों से एकदम लुप्त हो जायंगे उस दिन समझ लेना कि सामाजिक विजय पूर्ण रूप से प्राप्त हो गयी और तब सेना के ऊपर अधिक व्यय करने की आवश्यकता न रहेगी जिसके लिए कांगरेस वाले लड़ झगड़ रहे हैं।

( २ )

अंगरेजों द्वारा स्थापित स्कूलों तथा कालेजों के प्रभाव से हम लोगों में आत्माभिमान और जाति-गौरव का ध्यान धीरे धीरे दूर हो गया है। इसका आश्रय लेकर ब्रिटिश लोगों ने सामाजिक विजय के दूसरे उपाय का भी अवलम्बन करना आरम्भ कर दिया है।

भारतवासियों को राजकार्य में सम्मिलित करने की नीति ने हमारे सामाजिक नेताओं के बालकों को अङ्गरेजों के नेतृत्व में बद्ध कर दिया है। क्योंकि वे भारतवासियों से उच्च स्थान पर काम करते हैं। इस प्रकार का कोई नियम नहीं है कि जिसके कारण भारतवासियों को संसार में अपने को, अथवा अपनी जाति को, नीच समझ कर सरकारी कर्मचारी बनना आवश्यक

है। तथापि यह एक साधारण बुद्धि की बात है कि ओहदे में न्यून होने के कारण कोई अफसर एक जागीरदार के पुत्र का इतना आदर सत्कार न करेगा जितना कि स्वतन्त्रता के कारण उसके पिता का।

अब लेजिस्लेटिव कौंसलों की ओर ध्यान दीजिये। उसका सभापति अंगरेज होता है और महाराष्ट्र ब्राह्मण तथा सिक्ख राजा, जो कि हिन्दू समाज के सिरमौर समझे जाते हैं, उस सभापति के नेतृत्व के झण्डे का आश्रय लेते हैं। इस प्रकार से वाइसराय महोदय को आप हिन्दू सामाजिक नेताओं का भी नेता समझिये।

क्या कभी हम लोगों ने यह बात सोची है कि सरकार हम लोगों को लेजिस्लेटिव कौंसिल में क्यों स्थान देती है जब कि अङ्गरेज लोग बड़े बड़े प्रतिष्ठित हिन्दुओं तक को अपने क्लबों में लेने पर उद्यत नहीं होते? १८९१ में सरकार ने लेजिस्लेटिव कौंसिलें स्थापित की थीं। अब ये कौंसिलें समाज के रूप में हैं। इसी प्रकार क्लबों को भी समाज समझना चाहिए। यद्यपि यह अन्तर अवश्य है कि कौंसिलों में बैठकर कोई हंसी ठट्ठा अथवा खाना पीना नहीं कर सकता तथापि वास्तव में कोई बड़ा भारी अन्तर नहीं है। ऐसा क्यों होता है कि वाइसराय महोदय हिन्दू नेताओं को कौंसिल के लिए स्वयम् नामजद करते हैं जबकि विद्वान् से विद्वान हिन्दू किसी प्रकार से अङ्गरेजी क्लबों में घुस नहीं सकते? भारत के शासकगण इस बात को भली भांति समझते हैं कि हिन्दुओं के साथ मित्र भाव रखने से उनका राज्य चिरस्थाई हो जायगा। परन्तु यदि यही उनका उद्देश्य है तो इस प्रकार की मित्रता क्लबों में और भी अधिक हो सकती है। फिर भी वे लोग हम लोगों को वहां से अलग रखना क्यों अच्छा समझते हैं?

इसमें एक छिपी हुई बात है। वह यह है कि क्लबों में सामाजिक प्रेम का व्यवहार समानता के आधार पर होता है। किन्तु अंगरेज लोग हिन्दुओं के साथ मित्रता का व्यवहार असमानता के आधार पर चाहते हैं। हिन्दुओं द्वारा वे अधिक परिचय-दर्शक शब्द से पुकारा जाना अच्छा नहीं समझते। जिस प्रकार से वे परस्पर पुकारते हैं यदि उसी प्रकार से कोई बड़ा से बड़ा हिन्दुस्तानी उन्हें पुकारे तो वे अवश्य तुरन्त ही रुष्ट हो जायंगे। भारतवर्ष में लेजिस्लेटिव कौंसिल, म्यूनिस्पिल बोर्ड, दरबार और कालेज इत्यादि को उनका प्लेटफार्म समझिये। उन स्थानों पर प्राचीन ब्राह्मणों की भांति अंगरेज लोग अपनी सामाजिक महत्ता बड़े बड़े धनी और विद्वान् लोगों के मध्य में दर्शा सकते हैं। एक युरोपियन सिविलियन की अध्यक्षता में—जिसका पिता सम्भवतः इंगलैंड का बबर्ची, गड़रिया, बूचड़, मोची अथवा साधारण दूकानदार होगा भारत के उच्च घरानेवाले ब्राह्मण और क्षत्रिय एकत्रित होते हैं। यह कैसा शोकजनक दृश्य है, जब हमारे बालक इस बात को देखते हैं तब वे समझते हैं कि गोरांग लोग ऋषियों से भी बड़े होंगे। क्योंकि वे ब्राह्मण से भी उच्च आसन पर बैठाले जाते हैं। जिस प्रकार 'शेली' साहब कवियों के कवि कहे जाते हैं उसी भाँति वे ब्राह्मणों के ब्राह्मण हैं। हमारे बालकों में आत्मगौरव का गुण किस प्रकार हो सकता है जब कि उनके वृद्ध जन बिना किसी प्रयोजन के एक साधारण अंगरेज के सामने दीनता दिखाने में अपना सौभाग्य समझते हैं।

चीफस कालेज ( Chiefs' College ) में शिक्षा पाने वाले राजपुत्र अपने मुख्य अध्यापक को अवश्य प्रणाम करेंगे। इस बात को यदि ध्यान पूर्वक देखिये तो मालूम होगा कि कितना बड़ा परिवर्तन हो गया। प्राचीन राजघराने की सन्तानें एक

साधारण आक्सफोर्ड अथवा केम्ब्रिज के ग्रेजुएट की सामाजिक महत्ता को स्वीकार करते हैं।

कभी-कभी हम लोग स्वयम् ब्रिटिश लोगों को ब्राह्मणों का स्थान प्राप्त करने का अवकाश देते हैं। हम लोगों में कुछ लोग सभा इत्यादि में युरोपियन कर्मचारियों को सभापति बनाते हैं। यही नहीं, किन्तु बुद्धि और देशप्रेम दर्शाने वाली भारतवर्ष की राष्ट्रीय महासभा भी आत्मगौरव का ध्यान न करके सभापति के आसन पर कभी-कभी युरोपियन स्त्रियों को बिठाती है।

ब्रिटिश हिंदुस्तान को धन्य है कि जिस में शासक जाति का एक व्यक्ति हिंदू देशभक्तों की सभा का नेता बने। क्या यह विचार हमारे हृदयों में आ सकता है कि सन् १२०० में शहाबुद्दीन मुहम्मदगोरी के सभापतित्व में हिंदू देशभक्तों की सभा एकत्रित हो सकती थी, अथवा सन् १६६० में शाइस्तखाँ के नेतृत्व में जातीय कांग्रेस का होना सम्भव था? १९०४ की कांग्रेस में, जिसमें सर हेनरी काटन सभापति थे बाबू विपिनचन्द्र पाल ने जो वक्तृता दी थी उससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि भारतवर्ष में स्कूल और कालेजों की शिक्षा की बदौलत अब जाति-गौरव और आत्माभिमान का बिलकुल नाश हो गया। निम्नलिखित वाक्य इसके उदाहरण हैं :—

"बहिनों और भाइयों, मुझे इस स्थान में लज्जा नहीं मालूम होती यद्यपि अन्य अवसरों पर अफसरों के सम्मुख झुकने में मुझे बड़ा दुःख होता है। सच्चा और हार्दिक देश भक्त होने पर भी इस अवसर पर उस व्यक्ति के सम्मुख, जिसे हम लोगों ने कांग्रेस का नेता और स्वामी बनाया है, नम्रता दिखाने में मुझे लज्जा नहीं मालूम होती।"

यह दृश्य एक विदेशी विद्वान्, फ्रेंच अथवा जर्मन को कैसा बेतुका और हास्यजनक ज्ञात पड़ेगा। यदि इसके घोर

परिणामों को हम लोग अपने प्रति समझें तो हमें भी हंसी मालूम होगी। इससे केवल यही नहीं ज्ञात होता कि हम लोग देश भक्त नहीं हैं किन्तु यह भी मालूम होता है कि हम लोग देशभक्ति और आत्मगौरव का अर्थ ही नहीं समझते। यह उससे भी बड़ी भूल है और इसी प्रकार से भारतवर्ष के शिक्षित गण सारे संसार में हंसे जाते हैं। जब तक कि जाति-अभिमान और देश-भक्ति का पूर्णरूप में नाश न हो जायगा तब तक सर्वभक्षी अग्नि देवता की भांति सामाजिक विजय धीरे-धीरे बढ़ती जायगी। इसी सामाजिक विजय की आवश्यकता के कारण हमारे स्कूलों में शिक्षक बन कर, औषधालयों में डाक्टर बन कर, कचेहरी में मैजिस्ट्रेट बनकर, दफ्तरों में बड़े बड़े अफसर बन कर म्यूनिसिपेल्टी अथवा डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, लेजिस्लेटिव कौसिल और दरबार इत्यादि के सभापति बन कर अंग्रेज लोग अपना कार्य सिद्ध कर रहे हैं। यही कारण है कि वे हिंदुओं को मित्र के समान अपने क्लबों में स्थान नहीं देते। किन्तु उनके साथ सामाजिक वादाविवाद करने में वे रक्षक, नेता सहायक और स्वामी की भांति काम करना चाहते हैं। सामाजिक विजय के कार्य को पूर्ण करने के लिए असमानता सूचक वार्तालाप करने को उन्हें प्लेटफार्म चाहिये। उस प्लेटफार्म को भी उन्होंने उत्पन्न कर लिया है और अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये वे पूर्ण रूप से प्रयत्न कर रहे हैं।

( ३ )

किसी भी जाति में आप ऐसे मनुष्य न पावेंगे जो अपने सामाजिक पतन के लिए यत्न करें। शांति से रहना और कर इत्यादि देना एक साधारण बात है। किंतु आदर पाने की लालसा से म्यूनिसिपेल्टी और लेजिस्लेटिव कौंसिलों का मेम्बर बनना बिलकुल दूसरी बात है। ऐसे मनुष्यों के वर्तमान रहते

हुए जिनको कि कलक्टर, कमिश्नर, जज अथवा कौंसिल के मेम्बर बनने की आशा है, यही कहा जा सकता कि सामाजिक विजय कितना प्राप्त हो चुका है और ब्रिटन लोग ब्राह्मण की स्थिति के कितने निकट आ पहुंचे हैं। एक कट्टर हिंदू जो कि हिंदुओं के सिवा औरों का छुआ हुआ एक गलास पानी भी पीने को उद्यत नहीं होता है किस प्रकार से मांस भक्षक विदेशी द्वारा शासित सभा में नीचे आसन ग्रहण करने को अपना मान समझता है, यह समझ में नहीं आता। यह बात फिर फिर कहनी पड़ती है कि ऐसा कोई नियम नहीं है जिसके कारण इस प्रकार की नीचता दिखाना आवश्यक है। चाहे हम 'गरम' दल में हों या 'नरम' में, किंतु यह हमारी शक्ति में है कि हम अस्वतन्त्र जाति के सामाजिक पतन में सहायता न दें। यदि हम अपनी शासन शक्ति के शनैः २ नाश होने के विषय में कुछ कहना चाहें तो लोग हमें राजविरोधी समझने लगेंगे, किंतु सामाजिक विजय की वृद्धि का प्रतिरोध हम अवश्य कर सकते हैं और इससे हमारे जीवन तथा धन पर किसी प्रकार की बाधा नहीं आ सकती है।

भारतवर्ष में शिक्षित समुदाय जातित्व का शत्रु और आत्म-बल से रहित है। बहुत से शिक्षित लोग स्वार्थ के लिए जाति की जड़ को उखाड़ने में बड़े २ घृणित कार्य कर रहे हैं। वकील, बारिस्टर, सिविलियन और लेजिस्लेटिव कौंसिलों के सभासद् बनकर शिक्षित लोग धीरे २ हिन्दू जाति को मनुष्यत्व से नीची श्रेणी पर पहुंचा रहे हैं। देशाभिमान, आत्मगौरव और जाति की भिन्नता का ध्यान वे लोग विस्मरण कर रहे हैं और यह नहीं समझते कि इन गुणों पर जाति का जीवन निर्भर है।

शतसः उच्च घराने वाले ब्राह्मण और हिन्दू एकत्रित होकर एक साधारण अंगरेज की महत्ता सूचित करने के लिए, जोकि

सम्भवतः भारतवर्ष में आने के पूर्व विलायत में चमार, लोहार. और बनियों का नेता था, दावत देते हैं। उदाहरणों से ज्ञात होता है कि हम लोग बड़ी शीघ्रता के साथ निग्रो जाति की समता करना चाहते हैं। ऐसी दावतों में सम्मिलित होकर हम लोग अपने को विलायत के कुली और मोची से सामाजिक स्थिति में नीचा सिद्ध करते हैं। सामाजिक विजय की नीति को इस प्रकार सफल होते देखकर भारतवर्ष के अंगरेज अफसरों को अवश्य हर्ष होता होगा।

सामाजिक विजय के पश्चात निरन्तर दासत्व के अन्धकार में पड़ जाना होता है। जो कोई इस विजय की प्राप्ति में सहायता देते हैं वे अपने को पारिया जाति में परिवर्तित कर रहे हैं। जाति का राजनैतिक नेतृत्व क्षत्रियों के हाथों से निकल कर ब्रिटिश लोगों के हाथों में पहुँच गया है। क्या वे सामाजिक आधिपत्य को भी जो कि अभी तक ब्राह्मणों के हाथों में था, अपने वश में कर लेंगे? जब सामाजिक विजय पूर्ण रूप में प्राप्त हो जायगी तब हमारी जाति की कोई आशा न रहेगी। आरम्भ ही से इसके कुपरिणाम स्पष्ट हैं, इसकी औषध शीघ्र ही ढूँढ़ना चाहिये। क्योंकि इसका प्रतिरोध करने से राजनैतिक उन्नति का मार्ग मिल जायगा। इस स्थान पर मैं उन उपायों को नहीं समझाऊँगा जिनसे सामाजिक विजय का प्रतिरोध हो सकता है किन्तु भारतवासियों से यह प्रश्न पूछ कर कि क्या भविष्य में आपके ब्राह्मण 'ब्रिटन' होंगे? इस लेख को समाप्त करता हूँ।

# पाश्चात्य देशों की शिक्षा पर एक सम्मति

भारतीय बालक और बालिकाओं की उच्च शिक्षा का प्रश्न देश के लोगों का मन अपनी ओर आकर्षित कर रहा है। केवल ऊपरी शिक्षा से सन्तोष मिल जानेवाला समय अब अन्तर्धान सा होता जा रहा है। इस प्रश्न की ओर विशेष ध्यान जमींदारों और वणिक लोगों ही का है, क्योंकि वे इस बात का अनुभव कर रहे हैं कि केवल उनकी अयोग्यता और जंगलीपन के कारण पढ़े-लिखे लोग समाज के नेता बनते जाते हैं। जाति के इन प्रभावशाली फिर्कों के बहुत से धनवान पुरुष अपने लड़कों को युरुप भेजने के लिए तैयार हैं जिससे भारतवर्ष की नवीन स्थिति में वे अपने योग्य स्थान को प्राप्त कर सकें। ये जमींदार और वणिक विद्या को धन बनाने की इच्छा नहीं रखते, क्योंकि उनके धन कमाने के और जरिये मौजूद हैं। न तो वे अधिकारियों की कृपा के आधीन ही हैं और न उन्हें उन बाधाओं और मुसीबतों ही का सामना करना पड़ता है जो और लोगों को रोटी कमाने में उठानी पड़ती हैं। मध्य श्रेणी के गरीब और अमीर विद्यार्थी इङ्गलैंड में इसलिए आते हैं कि या तो वे सिविल सर्विस, शिक्षा विभाग, डाक्टरी और इञ्जीनियरी की परीक्षा पास करें या अन्य किसी पेशे को सीखें। उनका मुख्य उद्देश्य रोटी कमाना होता है, न कि शिक्षा ग्रहण करना। यदि उन्हें कोई शिक्षा मिल जाती है तो वह घाते में है। परन्तु भाग्यवश जिन लोगों को रोटी कमाने के लिए कोई संग्राम नहीं करना पड़ता, उन्हें चाहिये कि वे वास्तविक शिक्षा प्राप्त करें। उन्हें अपनी जमींदारी या अपने कारखानों की उन्नति करने के लिए वैज्ञानिक खेती अथवा कोई विशेष कला-कौशल सीखना चाहिये। वे साधारण शिक्षा-प्रणाली के बन्धन से मुक्त

हैं। उन्हें अपना भविष्य बनाने के लिए जहां कहीं शिक्षा के उत्तम साधन प्राप्त हों वहीं वे जा सकते हैं।

बेरिस्टरी का एक बड़ा भारी फाटक इन लोगों के लिए बन्द हो गया। अब केवल ग्रेजुएट लोग ही बेरिस्टरी पढ़ने जा सकेंगे। मेरी राय में इससे हमारे देश को बहुत लाभ होगा। जिन लोगों ने यह रुकावट पैदा की है, उनका उद्देश्य चाहे जो कुछ हो, परन्तु भारत का तो इससे बड़ाही उपकार होगा। अब धनवान जमींदारों और सौदागरों के लड़के अपना धन, स्वास्थ्य और चरित्र नष्ट करने के लिये टेम्स नदी के किनारे न जायेंगे। इस समय उन्हें वाणिज्य और खेती की ओर ध्यान देना चाहिये। इससे लाभ भी अधिक होगा। यदि जमींदारों के लड़के खेती नहीं करना चाहते तो वे अपने धन से कोई रोजगार कर सकते हैं। बैंक, बीमा, कला-कौशल इत्यादि धन्धे अमीर भारतवासियों का मुंह देख रहे हैं। अबतक जमींदारों और सौदागरों के लड़के बैरिस्टरी ही में मरे जाते थे। वे सामाजिक प्रतिष्ठा के भूखे थे और बिना पुरुषार्थ किये द्रव्य कमाना चाहते थे। अब उनके लिये बैरिस्टरी का दर्वाजा बन्द होगया है, इसलिए उन्हें रोजगार करना चाहिये और यही उनका ठीक काम भी है।

रोजगार अङ्गरेजों या अंगरेजी विश्वविद्यालयों की बपौती नहीं है खेती और शिल्प के सर्वोत्तम विद्यालय जर्मनी और फ्रान्स में हैं। क्योंकि फ्रान्स एक खेतिहर देश है और जर्मनी विज्ञान की मातृभूमि है। शिक्षा सम्बन्धी उन्नति में इङ्गलैंड इन देशों से बहुत पीछे है। यह बात मैं स्वयम् अपने अनुभव से कहता हूँ कि अंगरेजी विश्वविद्यालय नैतिक और मानसिक शिथिलता के अड्डे हैं। जब तक कोई मनुष्य केवल आक्सफोर्ड, केम्ब्रिज और एडिनबरा ही को जानता है, तब तक वह उनकी तारीफ़;

करता है, परन्तु जब वह संसार के अन्य विश्वविद्यालयों को भी देख लेता है तब तो वह उनसे घृणा करने लगता है। मुझे आशा है कि आक्सफोर्ड मुझे क्षमा करेगा क्योंकि वह हमें सिखाता है कि हम उससे प्रेम करें, परन्तु साथ ही वह हमें सिखाता है ( अथवा उसे सिखाना चाहिये ) कि हम सत्य से अधिक प्रेम करें। अंगरेजी विश्वविद्यालय 'दकियानूसी' हैं। अनिवार्य ग्रीकभाषा, धार्मिक शिक्षा की सनद, गिरजाघर, टोरीपन (उन्नति का विरोध), मिल का सम्पत्ति-शास्त्र, लेटिन भाषा में व्याख्यान, स्वेच्छाचारी पादरी तथा अनेक 'दकियानूसी' बातें यहाँ इस बीसवीं शताब्दी में भी विराजमान हैं। इससे मानसिक उन्नति का होना तो दूर रहा, उलटी मानसिक शिथिलता अथवा मानसिक मृत्यु ही उत्पन्न होती है। इस अंश में इङ्गलैंड सारी जातियों से पीछे है। जाड़े के कुहरे के अनुसार वह अपने ही ख्याल में मस्त है। परन्तु धीरे-धीरे वह गिरा जाता है, यदि जीवित रहना है तो उसमें फिर जागृत होनी चाहिये।

वर्तमान सभ्य संसार में फ्रान्स और जर्मनी दो बड़े उन्नत देश हैं। यद्यपि अमेरिका इंगलैंड से आगे है, तो भी वह फ्रान्स और जर्मनी के पीछे-पीछे चलता है। विज्ञान, कला, साहित्य सामाजिक उन्नति और नैतिक जीवन में फ्रान्स और जर्मनी के सम्मुख इंगलैंड की वही दशा है, जो इंगलैंड के आगे इटली की। फ्रान्स और जर्मनी में जान है—वह जान उमंगें मार रही है। उत्तम और औद्योगिक शिक्षा के लिए हमें फ्रान्स और जर्मनी की तरफ ध्यान देना चाहिये। इंगलैंड अपने फिसड्डीपन के कारण पूर्वीय देशों की तरह है।

जिन लोगों ने केवल इङ्गलैंड देखा है वे उसे बहुत कुछ उन्नत समझते हैं, परन्तु जिन लोगों ने और स्थानों की भी हवा खाई उनके विचार कुछ और ही हैं। शिक्षा के लिए पेरिस विश्व-

विद्यालय सारे संसार का केन्द्र है। वहाँ रूस, पोलैंड, पेरिस और चीन से विद्यार्थी पहुँचते हैं। जापानी लोग अधिकतर जर्मनी जाते हैं। बहुत कम ऐसे हैं जो इंगलैंड जाते हैं। मिश्री फ्रान्स और स्विट्ज़रलैंड जाते हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि जो पूर्वीय जातियाँ इंगलैण्ड के राजनैतिक बन्धन में नहीं हैं वे उनकी विद्यापीठों की कुछ पर्वाह नहीं करतीं। इस मामले में जापानियों का फैसला ठीक समझना चाहिये, क्योंकि जापान जिस बात को ठीक देखता है वही करता है।

इङ्गलैण्ड और अमेरिका में एक बड़ा भारी दोष यह है कि इन देशों में पढ़ने के निमित्त रोजमर्रः के खर्च के लिए बहुत धन की आवश्यकता है। अमेरिका में चीजों के दाम बहुत हैं। किसी विद्यार्थी का हार्वर्ड और येल में बिना तीन सौ रुपये मासिक के विद्याध्ययन करना असम्भव है। मैं त्यागी लोगों का जिक्र नहीं करता। यह बात है भारतवर्ष की उच्च कक्षा के साधारण युवकों की। वे मजदूर तथा मदारियों की तरह नहीं रह सकते और उन्हें ऐसा करना भी न चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से उनके स्वास्थ्य को हानि पहुँचेगी और पाश्चात्य देशों में रहने से जो लाभ होता है वह उन्हें पूरा-पूरा न प्राप्त होगा। इसलिए मध्यम श्रेणी सबसे अच्छी है। जैसे और विद्यार्थी रहते हैं वैसे ही उन्हें भी रहना चाहिये। उन्हें अपने मैलेपन, लापरवाही तथा त्याग से कोई विशेषता न प्राप्त करना चाहिये। प्राकृतिक और स्वास्थ्यकारक, रीति से अमेरिका में रहकर किसी बड़े विश्वविद्यालय में नियमानुसार शिक्षा पाने के लिए एक साधारण विद्यार्थी को कम से कम ३०० रु० मासिक की आवश्यकता पड़ती है। इङ्गलैंड में ढाई सौ रुपये में गुजर हो सकती है। इससे कम में काम ठीक-ठीक नहीं चलता।

परन्तु इङ्गलैंड और अमेरिका की अपेक्षा फ्रांस और स्विट-

जरलैंड में कम खर्च मे जीवन निर्वाह हो सकता है। बहुत से अंग्रेज परिवार खर्च बचाने के लिए स्विटजरलैंड चले जाते हैं, क्योंकि वहाँ थोड़े ही खर्च में जीवन के वे ही सुख मिल सकते है जो इङ्गलैंड मे अधिक धन खर्च करने से मिलते हैं। स्विटजरलैंड और इटली के उत्तरीय भाग में इस प्रकार के सैकड़ों मध्यम श्रेणी के लोग पाये जाते हैं। इसलिए जिन लोगों को अपने परिमित धन से विशेष लाभ उठाना है, उनके लिए यूरोप के मध्य भाग में शिक्षा प्राप्त करना बहुत ठीक है। फ्रांस और स्विटजरलैंड के सारे विश्वविद्यालयों मे फीस भी बहुत कम है। इङ्गलैंड की शिक्षा सम्बन्धी संस्थाएँ केवल इसीलिए हैं कि शिक्षा और शक्ति वहाँ के मालदार लोगों ही के अधिकार में रहे। परन्तु फ्रांस और स्विटजरलैंड में वे सर्वसाधारण के फायदे के लिए हैं, इसीलिए इङ्गलैंड की अपेक्षा वहाँ शिक्षा प्राप्त करने में कम खर्च पड़ता है। जर्मनी में भी खर्च कम पड़ता है। परन्तु जर्मनी और इङ्गलैंड मे कुछ विशेष अन्तर नहीं है। स्विटजरलैंड यूरोप के उन देशों में से है जिन में जीवन के सारे काम थोड़े खर्च मे चल सकते हैं। यह संसार का उद्यान भी है।

जल-वायु के खयाल से भी भारतवर्ष के माता-पिताओं को अपने लड़कों को इङ्गलैंड और अमेरिका की पूर्वीय रियासतों मे न भेजना चाहिये। इन देशों में बहुत सर्दी और हवा होती है। इङ्गलैंड उन देशों में एक है जहाँ को जल-वायु बहुत खराब है। कोई अङ्गरेज इससे इन्कार नहीं कर सकता। अमेरिका की पूर्वीय रियासतों में या तो इतनी ठण्डक होती है कि लोग जाड़े के दिनों में खाँसी और बुखार से मर जाते हैं या इतनी गर्मी होती है कि गर्मी के दिनों में धूप से मौत के शिकार हो जाते हैं। बोस्टन या वाशिङ्गटन में गर्मी लगभग १५ डिगरी से लेकर १०४ डिगरी तक होती है। कोई भारतवासी ऐसे सख्त

जाड़े का अनुमान नहीं कर सकता। वह नहीं जान सकता कि १० डिगरी गर्मी में कितना जाड़ा होता है। यह तो मलाई की बर्फ से भी ठण्डा होता है। जाड़े के दिनों में अमेरिका में उत्तरी ध्रुव का सा जाड़ा होता है और गर्मी में सौडान की-सी गर्मी। अमीरों के नाजुकबदन लड़कों के लिए बहुत काल तक इङ्गलैंड या पूर्वीय अमेरिका में रहना ठीक नहीं है। मैं बहुत से जवान आदमियों को जानता हूँ जो या तो इन सर्द देशों में रहने के कारण क्षय रोग से काल की भेंट हो गये हैं या वहाँ से लौटते समय क्षय रोग के बीज लेते गये हैं। बहुत से बैरिस्टर अपने घर लौटकर इस असाध्य रोग का शिकार हो जाते हैं। दुर्बलस्वास्थ्य पर इस जल-वायु का प्रभाव बहुत हानिकारक पड़ता है और अनुचित खान पान ही इस दुखदाई अवस्था का मूल कारण है।

---

# महात्मा निटशे

यूरोप में पिछले तीन सौ वर्षों में बहुत से मुनि और दार्शनिक हुए हैं, जिन्होंने जीवन की समस्याओं पर अपने विचारों का प्रचार करके शिक्षित समुदाय का पथ-प्रदर्शन किया है; और यह सिलसिला अब तक जारी है। उनमें से एक ने तो एक प्रकार के समाज की भी स्थापना की। परन्तु बाक़ी सब मुनियों ने केवल पुस्तकें लिखी हैं, जिनको पढ़ कर लोगों ने प्राचीन ईसाई-धर्म की जञ्जीरों से थोड़ी-बहुत स्वतन्त्रता प्राप्त की है। कुछ पुस्तकें तो ऐसी अत्यन्त कठिन और पेचीदा इबारत में में लिखी गई हैं कि उनका मतलब ही समझना कठिन है। जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक "हेगल" ने कहा था कि तमाम दुनिया में सिर्फ एक व्यक्ति मेरी फ़िलासफ़ी को समझता है, परन्तु शायद वह भी अच्छी तरह नहीं। परन्तु बहुत सी पुस्तकें

आसान और शिक्षाप्रद भी हैं। इनके अतिरिक्त दो फ़िलासफ़रों के भक्तों ने संस्थाएँ स्थापित कर रक्खी हैं, जो इनकी पुस्तकों के सिद्धान्तों का प्रचार करती हैं। जिस तरह प्राचीन हिन्दुस्तान में कपिल, कणाद, पातञ्जलि और दूसरे ऋषि पैदा हुए थे, उसी प्रकार यूरोप में भी विचारशील और स्वतन्त्र विचार वाले दार्शनिक अब नए सिद्धान्तों और आदर्शों के अनुसन्धान करने की चेष्टा करते हैं। हर एक अपना शङ्ख बजाता है। हिन्दुस्तान में लोग लकीर के फ़क़ीर बन गए हैं। बासी रोटियों को गरम करके ही उन पर शब्दाडम्बर और टीका-टिप्पणी का घी चुपड़ देते हैं। उनकी स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करने की शक्ति भी नष्ट हो गई है। बाज़ हिन्दुस्तानी पढ़े-लिखे लोग तो यूरोप के दार्शनिकों के शिष्य बन जाते हैं। कोई हर्बर्ट स्पेन्सर को अपना गुरु मानता है और कोई टॉलस्टॉय को। परन्तु भारतवासी अब दर्शन-शास्त्र के मैदान में कुछ उन्नति करते नज़र नहीं आते हैं।

वास्तव में दार्शनिक एक विचित्र प्रकार का प्राणी होता है और विचित्र प्रकार के विचार भी प्रकट किया करता है। यूरोप के दार्शनिकों का क्षेत्र बहुत विस्तृत है, क्योंकि यहाँ प्राचीन यूनान के दार्शनिकों की पुस्तकें ख़ूब प्रचलित हैं। वे पाश्चात्य ऋषि, जैसे अफ़लातून और अरस्तू आदि केवल आत्मा, ब्रह्म और मुक्ति के प्रश्नों पर ही अपनी शिक्षा समाप्त नहीं कर देते थे; बल्कि जीवन की अन्यान्य समस्याओं पर भी विचार करते थे। उन्होंने सदाचार, राजनीति, साहित्य, विज्ञान और कला को भी फ़िलॉसफ़ी अथवा दर्शन के अन्दर शामिल किया था। अतएव इनके अनुयायी होकर यूरोप के दार्शनिक भी इन सब बातों पर अपने विचार प्रकट करना अपना कर्तव्य समझते हैं और अपनी पुस्तकों में एक पूर्ण जीवन के आदर्श पर प्रकाश डालते हैं।

आजकल कुछ नए दार्शनिकों का बाज़ार गर्म है। फ्रान्स,

जर्मनी, रूस और दूसरे मुल्कों में 'अग्स्वनुक्चे' तथा अन्य दार्शनिकों के चेले पाए जाते हैं। इन्हीं नए मुनियों में से 'फ्रेडरिक निटशे' (Neitzsche) भी एक हैं। इस नाम में पाँच अक्षर ऐसे पाए जाते हैं कि शब्द का उच्चारण करना भी कठिन है। इसको 'नेयचे' या नेशये भी बोला जाता है। बिलकुल ठीक उच्चारण तो सिर्फ एक जर्मन ही कर सकता है। हम इनको महात्मा 'निटशे' ही कहेंगे।

ये मुनि भी अपने ढङ्ग के अनोखे, मगर अपनी धुन के पक्के थे। इनके विचार भी एक दृष्टि से विचित्र हैं। परन्तु इनकी शिक्षा का यूरोप पर गहरा असर पड़ा है। मैं नुक्ताचीनी नहीं करना चाहता, बल्कि इनके विचारों का प्रतिबिम्ब पाठकों के सम्मुख रखता हूँ। पाठक स्वयं अपनी रुचि के अनुसार गुण-दोष का विवेचन कर लें।

महात्मा निटशे ने १५ अक्टूबर सन् १८४४ ई० को रोकन नाम के एक छोटे से गाँव में जन्म लिया। इनके बाप इसी गाँव के गिरजे में पुजारी थे और इनके दादा का भी यही पेशा था। परन्तु विधि की विचित्रता तो देखिए, कि ऐसे वंश से ईसाई-धर्म का विरोधी दार्शनिक पैदा हुआ। परन्तु निटशे ने अपने बाप से तीन चीज़ें उत्तराधिकार में अवश्य प्राप्त कीं, एक दर्द सर, दूसरी अस्वस्थता तथा तीसरी गान-विद्या का शौक़। मालूम होता है, आरम्भ ही से निटशे के शरीर में कुछ ख़राबी थी, जिसके कारण भविष्य में उन्हें बहुत दुःख उठाना पड़ा। साथ ही बाजा बजाने में निपुणता और कुछ नई तानें और रागनियों का आविष्कार करने की योग्यता भी निटशे ने अपने बाप से पाई थी। बाक़ी गुण प्रकृति ने उन्हें स्वयं प्रदान किए।

कहा जाता है कि जब निटशे बालक थे, तो उन्होंने ने बहुत देर में बोलना सीखा। केवल हर तरफ़ देखते रहते थे। ढाई वर्ष

की अवस्था होने पर उन्होंने पहिला शब्द ज़बान से निकाला। उनके बाप उन्हें साथ लेकर प्रायः सैर करने जाया करते थे। एकाएक एक दिन मुसीबत का पहाड़ इस ग़रीब घर पर टूट पड़ा। अगस्त सन् १८४८ ई० को इनके पिता सीढ़ी से गिर पड़े। सर में गहरी चोट आ गई। फलतः एक वर्ष तक पागलपन की दशा में रहे, और अन्त में चल बसे। निटशे की अवस्था इस समय केवल चार साल की थी। इनके एक छोटा भाई और एक बहिन भी थी। परन्तु सन् १८५० ई० में छोटा भाई भी मर गया। अब सिर्फ़, उनकी माँ, निटशे और उनकी बहिन रह गये। बेचारी माँ नाद्मबर्ग नामक शहर में जाकर रहने लगी। वहाँ उसके कुछ निकट सम्बन्धी रहते थे।

निटशे बचपन ही से विचारशील और गम्भीर थे। इनकी पहिली इच्छा थी कि पुजारी बन जायँ। इन्हें सोचने-विचारने की आदत थी। यदि किसी बात पर गुरु या माँ कुछ डाट-डपट करते तो निटशे उस बात पर विचार करने के लिए अलग जा बैठते और अन्त में फैसला कर लेते कि इसमें इनका स्वयं कुछ दोष था या नहीं। वह प्रायः बाइबिल के कुछ परिच्छेद अपने दोस्तों को पढ़कर सुनाया करते थे।

एक बार स्कूल बन्द होने पर वर्षा हो रही थी। निटशे के पास छाता या ओवर-कोट कुछ न था। वह भीगते हुए धीरे-धीरे घर गए। माँ ने दूर से देख कर पुकारा तो भी वह उसी चाल से उसके पास आए और कहने लगे कि मुझे कई बार यह उपदेश किया गया है कि गली-कूचों में भागा न करो, अतएव वर्षा होने पर दौड़ना-भागना उचित नहीं है। एक रोज वह अपनी बहिन एलिज़ाबेथ से कहने लगे कि जो अपने ऊपर शासन कर सकता है, वही दूसरों पर भी शासन कर सकेगा।

निटशे का यह ख़याल था कि पन्द्रहवीं शताब्दी में उनका

कुटुम्ब प्रभावशाली और धनी-मानी था। क्योंकि एक किम्वदन्ती चली आती थी कि इसके कोई पूर्व-पुरुष पहले पोलैण्ड में रहते थे, परन्तु अपने धार्मिक विश्वास के कारण वहाँ से निकाले गए थे। उन्होंने जर्मनी में आकर शरण ली थी और अपना जर्मन नाम निटशे रख लिया। अब पोलैण्ड से कोई सम्बन्ध न रहा। यद्यपि इस कहानी का कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं था, परन्तु निटशे इस बात से खुश थे कि शायद हमारे बुजुर्ग सर्दार और जागीरदार थे। एक दफ़ा अपनी बहिन से कहने लगे कि हम सरदार "नेट" के वंश से हैं, हमें झूठ कभी न बोलना चाहिए।

नौ साल की अवस्था में निटशे को गान-विद्या का शौक़ पैदा हुआ और प्यानो बजाना शुरू किया। प्रायः धार्मिक गीत गाते थे और खुद ही बजाने के नोट भी निकाल लेते थे। कई नई तानें और नाच की रागनियाँ भी ईजाद कीं। कविताएँ भी किया करते थे।

यूरोप में हर बच्चे के जन्म-दिन पर उत्सव होता है और बच्चे को उपहार मिलते हैं। निटशे अपने जन्म-दिन पर अपनी माँ, चाची, बहिन और दूसरे रिश्तेदारों को उपहारों के बदले एक कविता लिख कर भेंट दिया करते थे। लड़कपन ही में एक-दो छोटे नाटक भी लिख डाले और मदरसे के साथियों ने उनका तमाशा किया। उन्हीं दिनों सदाचार पर एक पुस्तक लिखी, जो सहपाठियों के लिए शिक्षाप्रद थी। अस्तु, बचपन ही से निटशे ने अपनी योग्यता और गम्भीरता का परिचय देना आरम्भ कर दिया था। १४ वर्ष की अवस्था में वे एक अच्छे स्कूल में भर्ती हुए। उस समय अपने पिछले जीवन पर दृष्टिपात करते हुए एक छोटा सा निबन्ध लिख डाला, जिसमें इस आशय का पद भी पाया जाता है :—

"जीवन एक दर्पण है, हमारा कर्तव्य है कि इसमें अपने आपको देखें और पहिचानें।"

१४ वर्षीय बालक के ऐसे विचार थे। निटशे जन्म ही से दार्शनिक थे। सन् १८५८ ई० में इसी विद्यालय में शिक्षा आरम्भ की। यह कोटी का मदरसा कहलाता था। शिक्षक सब धार्मिक पुजारी थे। हर एक शिक्षक बीस लड़कों की निगरानी करता था। सदाचार पर बहुत जोर दिया जाता था। क़ायदे सख्त थे। इस विद्यालय में कई प्रसिद्ध जर्मन कवियों और दार्शनिकों ने शिक्षा पाई थी, जैसे नोवालिस, शेगल और फ़िश्टे। इस बात का अध्यापकों को गर्व था।

निटशे को सरकारी छात्रवृत्ति मिल गई और वह इस मदरसे में दाखिल हो गए। उन्हें खेल-कूद का ज्यादा शौक़ नहीं था। सिर्फ़ रविवार को सैर करने जाया करते थे और उसी दिन उनको माँ और बहिन भी इनसे मिलने आया करती थीं। इस समय की एक घटना जिक्र करने लायक़ है। जब विद्यार्थियों ने रूम का इतिहास पढ़ा, तो उसके एक आख्यान पर उन्हें विश्वास नहीं हुआ। कहानी चली आती है कि प्राचीन रूम में एक नवयुवक ने अपनी आत्मा का बल दिखाने के लिए अपना हाथ आग में रख दिया था और उससे रूम के शत्रु झेंप गए। पाठशाला के लड़कों ने आपस में कहा कि यह असम्भव है; केवल मनगढ़न्त बात है। यह सुन कर निटशे ने अँगीठी से एक जलता हुआ कोयला उठा कर अपने हाथ पर रख लिया। उनके हाथ पर अंगारे का दाग हो गया। उनने सब विद्यार्थियों से कहा कि प्राचीन रूम के लोग हमारी तरह बोदे और कायर नहीं थे। बल्कि वे अपने बच्चों को कष्ट सहना और बहादुरी सिखाते थे। आग में हाथ रख देना कौन-सी बड़ी बात है।

इसी समय निटशे ने अपनी जीवनचर्या लिखना आरम्भ

किया, जिसमें अपने विचार और अपनी उमङ्गों का वर्णन करते थे। यूरोप में प्रायः लोगों की यह आदत है कि अपने दिल का गुब्बार काग़ज़ पर निकाल लेते हैं। अपनी डायरी में अपनी ज़िन्दगी का कच्चा चिट्ठा लिख डालते हैं। निटशे ने लड़कपन ही में डायरी लिखनी शुरू कर दी। उसमें निम्नलिखित वाक्य विचारणीय हैं—

"समय इस तरह गुज़र जाता है, जैसे बहार में गुलाब का फूल। सुख भी नदी के पानी के फेन की तरह जल्द ग़ायब हो जाता है।

"अभी मैंने हेम्बोल्ट की लेखमाला का अध्ययन समाप्त किया है। इससे मेरे दिल में सब प्रकार की विद्या प्राप्त करने का शौक़ पैदा हो गया है। मैं ज्योतिष विद्या, वनस्पति विद्या, प्राणि विद्या, इब्रानी भाषा, लातिनी भाषा और बहुत सी विद्याएँ पढ़ूँगा और धर्म-शास्त्र का भी अध्ययन करूँगा। विद्या का मैदान विस्तृत है।"

इस समय इस नवयुवक के दिल में ऐसी उमंगें थीं। १७ वर्ष की अवस्था में उसने कई कवियों की पुस्तकों का अध्ययन समाप्त कर दिया। जैसे वायजन, शेलर और होल्डरसन आदि। एक दफ़ा उसे यह ख़्याल हुआ कि मैं सङ्गीत और प्यानों ही को अपना पेशा बना लूँ। मगर माता की राय थी कि बेटा अध्यापक या प्रोफ़ेसर बने क्योंकि सब उस्ताद उसकी योग्यता और बुद्धिमत्ता की तारीफ़ करते थे। इसी साल निटशे को सिर और आँखों में दर्द की शिकायत पैदा होगई और यह दुःख उन्हें सारी उम्र झेलना पड़ा।

निटशे का विशेष विषय प्राचीन यूनान की भाषा और उसका साहित्य था। यह एक अत्यन्त कठिन भाषा है। परन्तु इसके साहित्य में दर्शन, काव्य और इतिहास के रत्न भरे पड़े

हैं। विद्यालय के अध्यापक प्रायः उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों को अपने घर बुलाया करते थे। एक अवसर पर एक उस्ताद के घर में निटशे की एक लड़की से मुलाक़ात हुई, जिससे उन्हें कुछ काल के लिए हार्दिक प्रेम होगया। यह उनके लिए प्रेम का प्रथम अनुभव था। लेकिन यह सिर्फ अल्पकालीन था। इसी जमाने में इनकी मिस्टर पाल-डाइसन से दोस्ती हो गई, जो इनके सहपाठी थे। यह मिस्टर डाइसन आगे प्रोफेसर बने और संस्कृत भाषा का अध्ययन करके वेदान्त के बड़े पण्डित माने गए।

मैंने सन् १९१० में शहर बीना में उनके दर्शन किए। उन्होंने निटशे के विषय में मुझे बहुत सी बातें बताई। निटशे के एक प्रेमी मित्र से मिलना भी एक आनन्द का कारण था।

"गुल नहीं तो बूए गुल ही सही!"

सन् १८६२ ई० के अक्टूबर में निटशे बोन नगर के विश्व-विद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने के लिए गए। इस समय विश्व-विद्यालय में बहुत से आन्दोलन जारी थे। निटशे तो जवानी में भी बहुत सादा जीवन व्यतीत करते थे। अतः उन्होंने बोन में भी कभी तम्बाकू और शराब का प्रयोग नहीं किया। इससे प्रगट होता है कि उनका आदर्श बहुत ऊँचा था। क्योंकि यूरोप के सारे विद्यार्थी सिगरेट पीते हैं और सिगरेटों से ही एक-दूसरे की खातिर-तवाज़ा भी करते हैं। अगर विद्यार्थियों का कोई जलसा हो तो धुएँ के कारण बैठना कठिन हो जाता है। हल्की शराब यानी 'बियर' तो जर्मनी में इस तरह पी जाती है, जैसे हिन्दुस्तान में दूध या पानी। खाने के साथ पानी तो कोई पीता ही नहीं। सब शराब ही माँगते हैं। विद्यार्थी इस शराब के निहायत शौक़ीन होते हैं।। शर्त लगा कर कितनी ही बोतलें पी जाते हैं। कभी-कभी नशे में मस्त होकर कुछ शरारत भी

कर बैठते हैं। परन्तु शहर के लोग इनसे ज़्यादा अप्रसन्न नहीं होते। वे समझते हैं कि यह नौजवानों का उत्साह है। जर्मनी में विद्यार्थी होकर शराब न पीना, कठिन काम था, जिसे निटशे ने कर दिखाया। यह शराब चीज़ लोगों या जर्मनों की एक बड़ी राष्ट्रीय वस्तु है। इसका अपमान करना एक प्रकार का जातिद्रोह है। जर्मनों के एक प्रसिद्ध गीत में लिखा है कि, जर्मनी का संगीत, जर्मनी की स्त्रियों का सौन्दर्य, जर्मनी का साहित्य और जर्मनी की शराब हमेशा दुनिया में बेजोड़ रहेंगे। जर्मनी को अपने देश की शराब पर बड़ा अभिमान है।

तम्बाकू का भी यूरोप में हद से ज़्यादा प्रयोग किया जाता है। सिगरेट और सिगार हर एक व्यक्ति की जेब में हर समय रहते हैं। अब औरतें भी इस बुरी आदत को ग्रहण करने लगी हैं। जो लोग तम्बाकू से परहेज़ करते हैं, उन्हें पागल या सनकी समझा जाता है।

जब निटशे ने इन दो बुरे व्यसनों पर अमल करने से इनकार दिया, तो उन्होंने प्रमाणित कर दिया कि वे वास्तव में ऋषि बनने के लायक़ थे। उन्होंने एक बार अपने मित्रों पर भी अच्छा नैतिक प्रभाव डालने का प्रयत्न किया। क्लब में यह प्रस्ताव उपस्थित किया कि तम्बाकू और शराब का प्रयोग बहुत कम मात्रा में किया जाय। मगर वहाँ कौन सुनता था। इन नौजवानों को जवानी और शराब-कबाब, इन तमाम जादूगरों ने अपना दास बना रक्खा था। क्लब ने निटशे के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया और नतीजा यह हुआ कि वे ख़ुद क्लब से निकाल दिए गए। सुधारक होने की यह सज़ा उन्हें मिली।

"सीख तो वाको दीजिए, जाको सीख सुहाय।"

# प्रे० मासारिक के जीवन पर एक नज़र

प्रथम महायुद्ध के समय यूरुप और अमरीका में कुछ महापुरुषों का प्रादुर्भाव हुआ। उदाहरणार्थ विल्सन, लेनिन, क्लीमान्सो आदि-आदि। मासारिक इन महापुरुषों में से एक हैं। आज वह नई रियासत चेकोस्लोवाकिया के प्रधान हैं और जीवन भर के लिये उन्हें इस पद के लिए निर्वाचित किया गया है। उनके जीवन चरित्र की कथा भी अत्यन्त मनोरंजक है और उनकी शिक्षा भी अत्यन्त आवश्यक और उपयोगी होगी। अतः मैं इनके सम्बन्ध में कुछ लिखना चाहता हूँ।

चेकोस्लोवाकिया का पुराना नाम बोहेमिया था। कई सदियों से यह जाति आस्ट्रिया के मातहत थी। क्योंकि कुछ कारणों से उनकी स्वतन्त्रता समाप्त हो गई थी। आस्ट्रियन हुकूमत जर्मन बोलने वाले जर्मन क़ौम के लोगों के हाथ में थी। जर्मन जाति के दो हिस्से रहे हैं—उत्तरी जर्मन और दक्षिणी जर्मन। उत्तरी जर्मन का केन्द्र बर्लिन शहर बन गया और रियासत प्रशिया इनकी रक्षक हो गई—दक्षिणी जर्मनों की पुरानी राजधानी 'वीयना' नगरी थी और 'आस्ट्रिया' का रियासत उनकी जातीय संस्था थी। यह जर्मन जाति सदैव से वीर व परिश्रमशील रही है। महायुद्ध के प्रारम्भ में भिन्न-भिन्न जातियों से इन जर्मनों की दुश्मनी थी और नीचे लिखे मुल्कों के कुछ हिस्से इन जर्मनों के अधिकार में थे। अन्य जातियाँ तो बिल्कुल जर्मनों के पाँव तले रौंदी जा रही थीं—उदाहरणार्थ बोहेमिया, हंगरी, रूमानियाँ, सर्बिया, पोलैंड, डेनमार्क, फ्रान्स इटली आदि। पड़ोसी जातियों से इन उत्तरी और दक्षिणी जर्मनों का बैर था; अर्थात् ये जर्मन लोग शत्रुओं के घेरे में घिरे हुये थे। जब इनकी हार हुई तो विजित और सताई हुई जातियों ने सर उठाया और

अपने अधिकार प्राप्त कर लिये, इसी कारण से अब आस्ट्रिया की रियासत इतनी छोटी रह गई है जैसे आकाश में नवचन्द्र होता है। क्योंकि वास्तव में वहाँ जर्मन निवासी तो बहुत कम हैं किन्तु हंगरी रूमानियाँ, सर्बिया और इटली के ज़िलों को मिलाकर एक बेढंगा विस्तृत राज्य बना रक्खा था, जैसे कोई दुबला आदमी बहुत से रुई के कपड़े पहिन कर मोटा बन जाये और जब वह कपड़े उतार लिये जावें तो फिर हड्डियाँ दिखाई देने लगें। बोहेमियाँ की पुरानी रियासत को भी आस्ट्रिया के क़ैसर ने हड़प कर लिया था, और वहाँ राष्ट्रीय आन्दोलन छिड़ा हुआ था ताकि अगर पूर्ण स्वतंत्रता न मिल सके तो कुछ न कुछ अधिकार तो मिल जावें। अब अन्त में इन महापुरुष 'मासा-रेक' के सिर सफलता का सेहरा बँधा है। जो काम बहुत से दूसरे देशभक्तों ने प्रारम्भ किया उसे अब इन्होंने पूरा किया है।

टामस जो मासारिक तारीख ७ मार्च, सन् १८५० ई० में होड़हन गाँव में पैदा हुए थे—यह गाँव सरहद के क़रीब बसा है। इनके पिता साईस थे और एक धनी ज़मींदार के यहाँ नौकर थे। देखिये ईश्वरी लीला कि एक साईस का लड़का देश का प्रधान बन गया। यद्यपि घर धन धान्य से पूर्ण न था लेकिन लड़के ने बौद्धिक योग्यता अपने ग़रीब वंशजों से प्राप्त की थी, जिन्हें उस समय गाँव-गाँव काम की खोज में घूमना भी पड़ता था। टामस ने पहिले अपनी मातृभाषा चेक सीखी और फिर शहर 'चेकोवस्की' में एक प्राइमरी स्कूल में दाखिल हुआ। होनहार बिरवा के चिकने-चिकने पात। अध्यापक को जल्द मालूम हो गया कि प्रकृति ने लड़के को अनोखी योग्यता प्रदान की है, यद्यपि इसका पिता निर्धन साईस था। (अछूतोद्धार के विरोधियो! तनिक ध्यान दो, नहीं मालूम भारतवर्ष को स्वतन्त्र कराने वाला वीर भी कोई अछूत ही निकल आवे। समुद्र की

तह से मोती निकलते हैं, घास फूस सतह पर बहते हैं।) चूँकि टामस बहुत मेधावी था और अपनी कक्षा में सदैव प्रथम आता था, अतः अध्यापक ने उसके माँ बाप से कहा कि उसे उच्च शिक्षा देनी चाहिये ताकि वह अध्यापक बन जाये या और किसी पेशे में प्रवेश कर सके। टामस शहर होस्टोपक में भेज दिया गया, वहीं जर्मन भाषा भी सिखाई जाती थी। इस स्कूल के सब इम्तिहान उसने केवल दो साल में पास कर लिये और उस समय उसकी अवस्था १३ वर्ष की थी। अब अध्यापक बनने के लिये नार्मल कालेज में दाखिल होना जरूरी था, लेकिन वहाँ १६ वर्ष से कम आयु के नौजवानों को नहीं लिया जाता था। अतः टामस को तीन साल प्रतीक्षा करनी पड़ी। इस समय में बेचारे निर्धन माँ बाप के विचार बदल गये। उन्होंने सोचा कि यों ही बेकार बैठने से क्या लाभ है और न मालूम अध्यापक बनना तेरे भाग्य में लिखा है कि नहीं। अच्छा तो यही है कि तू दस्तकारी सीख ले और मजदूर बन जा। निर्वाह का कोई उपाय ढूँढ़—अधिक लालच से कभी-कभी हानि होती है :—

गर ख़ुदा देवे क़नाअत माह यक हफ्ता की तरह।
दौड़ सारी को कभी आधी न इन्साँ छोड़कर॥

टामस की माँ ने वियना शहर में उसे एक लोहार के कारखाने में नोकरी दिलवादी। वहाँ वह ताले बनाने का काम सीखता रहा। वह छोटे से कारख़ाने में मशीन चलाता रहा, लेकिन साथ ही एक एटलस ( भूगोल ) पढ़ने के लिये अपने पास रखता था। उसके साथी एटलस को इधर उधर छिपा देते थे, क्योंकि वह कहते थे कि लोहार को भूगोल से क्या काम। अन्त में टामस थकता गया, और घर वापस चला आया। बाद में उसके बाप ने उसे एक दूसरे लोहार का शिष्य बनवा दिया। इसी बीचमें एक दिन टामस का पुराना अध्यापक वहाँ आ निकला और

उसके माँ बाप को शर्मिन्दा करने लगा। "अफ़सोस! ऐसे मेधावी लड़के को लोहार बनाना चाहते हो। यह क्या मूर्खता है? सोने को ताँबे की तरह प्रयोग करते हो। और उसकी योग्यता को अज्ञान के अंधे कुएँ में ढकेलते हो।" इस उपदेश से माँ-बाप के दिलों पर प्रभाव पड़ा और उन्होंने मान लिया कि टामस अध्यापक बनने के लिए नार्मल कालेज में दाखिल हो जाये। सरकारी छात्रवृत्ति भी मिल गयी और टामस बरनो में पढ़ने चला गया। वहाँ हर विषय में इनाम इसी को मिले, और उसने जर्मन भाषा में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। टामस ग़रीबी के कारण प्राइवेट तौर पर दूसरे लड़कों को पाठ पढ़ा कर कुछ रुपया कमा लेता था। ग़रीब माँ बाप तो कुछ मदद नहीं कर सकते थे। टामस ने साधारण विषयों के अतिरिक्त पोलैण्ड की भाषा भी सीख ली और बाद में रूसी भाषा की भी योग्यता प्राप्त कर ली। अर्थात् विद्या के विस्तृत क्षेत्र के कितने ही मार्ग पार कर लिये। लेकिन बरनो के कालेज में टामस की प्रोफेसरों से अनबन रहती थी, क्योंकि वह साम्प्रदायिक बन्धनों के सामने सिर नहीं झुकाता था। इस कालेज में यह नियम था कि समस्त विद्यार्थी ईसाई पुजारी के पास जाकर अपने पापों को स्वीकार किया करें; विशेषकर कैथोलिक सम्प्रदाय में यह प्रथा परमावश्यक समझी जाती थी।

लेकिन टामस और बहुत से स्वतंत्र विचारों के व्यक्ति इसको बुरा समझते थे, क्योंकि इस प्रथा से पुजारियों की शक्ति बढ़ती है और ये प्रजा का रुपया लूटते हैं। पाप तो केवल सदाचार से क्षमा किये जा सकते हैं पुजारी के सामने अपनी रामकहानी सुनाने से क्या मतलब है। कालेज के प्रिन्सिपल ने कहा "कि मैं भी इन बेहूदा प्रथाओं के विरुद्ध हूँ, किन्तु क्या करूँ क़ानून से

लाचार हूँ। अतः तुम भी मक्कार बन कर नियमों का पालन करो। इस में क्या हर्ज है!"

इस सलाह को टामस ने न माना और उसने अपने दोस्तों से कहा कि यह प्रिन्सिपल बिल्कुल लचड़ आदमी है और उसे असूल का ख्याल जरा भी नहीं है। इस वजह से टामस की कालेज में बदनामी हो गई कि यह गुस्ताख़ ( ढीठ ) और बेअदब लड़का है और इसका कोई धर्म नहीं है। टामस वियना के कालेज में दाखिल हो गया और एक रूसी खान्दान ( कुटुम्ब ) के बालकों को रूसी जुबान में सबक पढ़ाकर कुछ रुपया भी कमाता रहा। वियना यूनीवर्सिटी में भी इम्तहान पास कर लिया और सब जगह अपनी योग्यता का सिक्का जमा दिया। जल्द ही उसे एक विश्वविद्यालय में नायब प्रोफेसर बना दिया गया। बोहेमिया के केन्द्र शहर प्रेग में जो यूनीवर्सिटी थी उस में सन् १८८२ ई० में एक नया विभाग खोला गया जहाँ चेक भाषा में पढ़ाया जाय। इसके पहले राज्य करने वाली जाति अर्थात् जर्मनों की भाषा ही पढ़ाई जाती थी। इस चेक भाषा के विभाग में मासारीक एक साधारण प्रोफेसर नियुक्त किये गये। आस्ट्रियन सरकार ने वचन दिया कि तीन साल के अन्दर उन्हें बड़ा प्रोफेसर बना दिया जायगा, लेकिन चूँकि बाद में मासारीक के राजनैतिक विचारों से राज्य अप्रसन्न हो गया इसलिए १६ साल तक उन्हें उच्च प्रोफेसर का पद नहीं दिया गया। प्रेग में मासारीक ने सन् १९१४ ई० तक प्रोफेसर के रूप में काम किया और प्रत्येक देश में अपने गुणों के द्वारा ख्याति प्राप्ति की। सन् १८७८ ई० में मासारीक ने मिस चारीगारी गीथे से शादी की। उनकी इस महिला से शहर लायपजिग में प्रथम बार भेंट हुई थी। बाद में वह अपने माँ-बाप के साथ अमरीका चली गई। किन्तु सच्चा प्रेमी समुद्र पार करके अमरीका पहुंचा

और वहाँ से उसे अपने साथ ले आया। सन् १८८२ ई० से सन् १९१४ ई० तक प्रोफ़ेसर मासारीक ने बोहेमिया में भिन्न-भिन्न स्थानों में काम किया। प्रेग में व्याख्यान दिये, चेक जाति की महासभा सोकोल में भाग लिया और किताबें लिखीं। इनमें से कुछ किताबों के नाम नीचे दिये जाते हैं :—

ह्यूटनरम ( सन् १८८० ई० ) .खुदकुशी का मसला उसका अन्सदाद, (सन् १८८१ ई०) फ़ैलसूफ़ ह्यूम पर समालोचना (सन् १८८४ ई० ) फ्रान्सीसी .फ़ैलसूफ़ पासकाँ का जीवन-चरित्र (सन् १८८३ ई०) तर्क शास्त्र, ( सन् १८८६ ) आठ घंटे मेहनत करने का मसला। (सन् १५०० ई०) चेक कौम का मुस्तकबिल—सन् १८९५ ) कसरत अजदवाज का मसला ( सन् १८९९ ) वग़ैरः

इन किताबों की वजह से प्रोफेसर मासारीक के नाम की तमाम देशों के विद्वानों में धूम हो गई। साथ ही बोहेमिया के राष्ट्रीय आन्दोलन में काम भी हो गया। एक चेक लेखक डाक्टर जानहरबन लिखते हैं कि :—

'प्रोफ़ेसर मासारिक ने राष्ट्रीय प्रश्न पर जो पुस्तक लिखी हैं उन्हें हम धर्म पुस्तकों की तरह पढ़ते हैं ये किताबें गोया सोने की हैं।'

प्रोफ़ेसर मासारीक का तीन ओर से विरोध होने लगा। आस्ट्रियन सरकार, ईसाई पादरी और उनके कुछ राष्ट्रीय कार्यकर्ता, ये तीनों समाजें इनको घृणा की दृष्टि से देखने लगीं। आस्ट्रियन सरकार तो स्वभावतः चेक देशभक्तों के विरुद्ध थी और ईसाई पुजारी प्रोफ़ेसर मासारीक के धार्मिक स्वतंत्र विचारों को सहन नहीं कर सकते थे। प्रोफ़ेसर साहब पुरानी रूढ़ियों के विरुद्ध प्रचार करते थे। फल यह हुआ कि एक बार एक स्त्री ने सरकार से शिकायत कर दी कि प्रोफ़ेसर मासारीक नौजवानों को बिगाड़ता है। प्रेग के आर्चबिशप ( पुजारियों के

गुरु घंटाल ) ने कैसर के पास जाकर यह अपराध लगाया कि मासारीक धर्म की बुराई कर रहा है। सन् १९०० ई० में तीन सौ आठ पुजारियों ने मासारीक के विरुद्ध मुक़द्दमा चलाया कि यह व्यक्ति धर्महीन है और उसे प्रोफ़ेसरी से पृथक् कर देना आवश्यक है। तात्पर्य यह कि ईसाई पादरियों की सदैव यह कोशिश रही है कि मासारीक को यूनिवर्सिटी से निकाल दिया जाये लेकिन उनकी बात चली नहीं।

मासारीक एक बार रूस भी गये और टालस्टाय से भेंट की। इससे सरकार के और भी कान खड़े हो गये। क्योंकि चेक देशभक्त यह आशा रखते थे कि रूस एक दिन उन्हें आज़ादी की लड़ाई में मदद देगा। चेक और रूसी जातियों में घनिष्ट जातीय सम्बन्ध है और उनकी भाषायें भी एक दूसरे से मिलती जुलती हैं। चेक जाति रूस को अपना रक्षक समझती थी इसीलिये चेक सरकार इन देशभक्तों से अधिक डरती थी जिससे रूस के ताल्लुक़ात बिगड़ते जाते थे। लेकिन मासारीक जैसे निडर धार्मिक लोग सरकार की गीदड़ भबकियों से कब डरते थे। ख़ैर आस्ट्रियन सरकार और ईसाई पुजारियों को अलग रहने दो ख़ुद चेक देशभक्त मासारीक के विरोधी हो गये क्योंकि उन्होंने दो जातीय ( धार्मिक ) पुस्तकों को साबित कर दिया कि ये पुरानी नहीं हैं किन्तु बाद में लिखी गई हैं। तमाम जाति इन पुस्तकों को श्रद्धा और भक्ति की दृष्टि से देखती है किन्तु मासारीक ने जब इस सवाल की छानबीन की तो उन्हें मालूम हो गया कि ये पुस्तकें नई हैं और किसी व्यक्ति ने जाल व पाखंड से जाति को धोखा दिया है। अब प्रोफ़ेसर के सामने बड़ी मुश्किल थी। अगर सत्य का प्रचार करें तो अनपढ़ों को बड़ा कष्ट मिले और फिर सब लोग उन्हें चाहने न लगें। अगर चुपचाप रहें तो भी पाप है। अन्त में प्रोफ़ेसर साहब ने प्राचीन

हिन्दू असूल से काम लिया कि सच से बड़ा कोई धर्म नहीं है। उन्होंने एक पुस्तक द्वारा अपने विचार प्रकट किये। जाति पर एक बम लेख के रूप में फेंक दिया। इस काम के लिये बहुत सच्चरित्रता और साहस की आवश्यकता है। इसका अनुमान हम इस भाँति लगा सकते हैं कि अगर कोई हिन्दू पंडित इस बात को प्रमाणित कर दे कि भगवत गीता भगवान श्रीकृष्ण जी के समय से बहुत पीछे लिखी गई थी और किसी कवि ने यों ही अपने सिद्धान्तों के लिए श्रीकृष्ण का इस कविता में गढ़ दिया तो एक बार हिन्दू विद्वानों के दिलों में खलबली मच जायगी। अगर कोई यह कहे कि राधा तो एक मनगढ़न्त नाम है और कोई ऐसी स्त्री कभी नहीं हुई तो करोड़ों हिन्दू चौंक उठेंगे। इसी प्रकार प्रोफ़ेसर मासारीक के सिर पर भी कटु आलोचना और अपशब्दों का पहाड़ टूट पड़ा। एक उनके जाति के समाचारपत्र ने लिखा कि—

"यह मासारीक बड़ा धोकेबाज़ और शैतान है।"

---

# हिन्दी-भाषा भाषी हिन्दुओं का भविष्य

मेरा पहला प्रश्न यह है कि "हिन्दी बोलने वाले लोगों के देश का क्या नाम है?" इसके अलग-अलग विभागों को तो नेपाल, राजस्थान, अवध इत्यादि कहते हैं। किन्तु सारे देश का क्या नाम है? बङ्गालियों के देश का नाम बङ्गाल है, पञ्जाबियों का पञ्जाब है। इसी प्रकार हमारे देश का क्या नाम है? पहले देश का नाम तो रखो। पीछे इसके भविष्य पर विचार करेंगे

हिन्दुओं में देशभक्ति और एकता की कमी है। और सब गुण तो इनमें यूरोप की जातियों के समान हैं। देशभक्ति और एकता के अभाव से यह दासत्व में फँसे हुये हैं। इनमें किस

विधि से इस कमी को पूरा किया जाये, यह हमारा प्रश्न है।

देशभक्ति और एकता के लिये एक मातृ-भाषा में साहित्य पढ़ना और राष्ट्रीय सभा करना आवश्यक है। मातृभाषा ही जातीयता का एक मात्र चिन्ह है। जिन लोगों की एक मातृ-भाषा और एक साहित्य है उन ही को एक "जाति" (अंग्रेजी में "नेशन") कहते हैं। उनकी मातृभूमि को "देश" कहते हैं। जहाँ तक मातृभाषा बोली जाती है वहाँ तक ही मातृभूमि है, उसके परे प्रवास है।

सारे भारतवर्ष की एक मातृभाषा नहीं है। इस कारण से एक सच्ची जातीय सभा नहीं बनाई जा सकती है। हिन्दू सभ्यता सारे भारतवर्ष में एक है परन्तु इससे राष्ट्रीय सभा नहीं स्थापित की जा सकती है। ऐसे ही यूरोप की एक सभ्यता है परन्तु वहाँ कई जातियाँ और राष्ट्र अलग-अलग हैं। इस्लाम की एक सभ्यता है और वहाँ भी ईरान, तुर्की, मिश्र, अफगानिस्तान आदि जातियाँ और देश हैं। राष्ट्रीय एकता सभ्यता के अनुसार नहीं होती है। केवल मातृभाषा के आधार पर राष्ट्रीयता और एकता हो सकती है। एक सभा में कई भाषायें नहीं बोली जाती हैं।

यूँ तो हमको सारे जगत से प्रेम है और फिर सारे भारतवर्ष की भक्ति भी है। परन्तु यहाँ ऐसी साधारण भक्ति का प्रश्न नहीं है। यहाँ यह विचार करना है कि हिन्दुओं में ऐसे भाव क्यों कर उत्पन्न हों जैसे आज नेपाल, जापान, फ्रांस, आदि स्वतंत्र जातियों में दिखाई देते हैं ? ऐसी गहरी और दृढ़ भक्ति चाहिये जिससे लोग अपनी स्वतंत्रता के लिये धन और प्राण का बलिदान दे सकें और विदेशी राज्य को एक पल भी न सह सकें। यदि कोई दूसरी जाति देश पर आक्रमण करे तो प्रत्येक नागरिक प्राण और धन देने को तैयार हो और युद्ध में ऐसी वीरता दिखाये

कि शत्रु हार जायें। ऐसा भाव प्रत्येक स्वतंत्र जाति में पाया जाता है और यही स्वराज्य का मूल है। यदि कोई जाति ऐसी शक्ति खो बैठी है तो वह शीघ्र ही दासत्व की बेड़ियों में बंध जायगी। ऐसी हार्दिक, स्थायी, प्राकृतिक, अगाध देशभक्ति की हम को अब आवश्यकता है। चार आने वार्षिक चन्दा देने वाली देश-भक्ति से स्वराज्य नहीं मिल सकता है। कहावत है कि जितना गुड़ डालोगे उतना ही मीठा होगा। जितना अधिक बलिदान दे सको उतनी ही जल्दी इङ्गलैंड तुम्हारा स्वराज्य मान लेगा।

ऐसी सच्ची पूर्ण देशभक्ति केवल उन लोगों में उत्पन्न की जा सकती है जिनकी मातृभाषा एक हो। यह राजनीति शास्त्र का सिद्धान्त है। इसके प्रतिकूल चलने से केवल असफलता के गढ़े में गिर जाओगे और कुछ नहीं होगा।

हमारा राष्ट्रीय आदर्श क्या होना चाहिये? कोई कहता है कि साम्राज्यान्तर्गत स्वराज्य हो, कोई कहता है कि पूर्ण स्वतंत्रता हो। यह सारा कोलाहल निरर्थक है। पहले तो यह आदर्श बताना चाहिये कि हिन्दी बोलने वाले हिन्दुओं को मिलाकर एक राष्ट्र स्थापित किया जायगा। अभी यह जाति बिखरी हुई है। नेपाल राजस्थान, अवध आदि भिन्न २ विभाग हैं। यह हमारा दुर्भाग्य है। हम हिन्दी भाषा-भाषी हिन्दू १८ करोड़ हैं, परन्तु आज टूटी हुई माला के मोतियों की भाँति अलग २ छितरे-बितरे पड़े हुए हैं। आओ अब इन भाइयों को एक राष्ट्रीय लड़ी में पिरोएं। और उस माला का सूत्र क्या है जिसमें यह पिरोए जायंगे। यह हमारी प्यारी मीठी प्राचीन तुलसी-भाषा, हिन्दी भाषा है जो इन बिछुड़े हुए भाइयों को फिर मिलाएगी। जो शुभ काम हिन्दी-साहित्य सम्मेलन साहित्य के विषय में कर रहा है वही काम राजनीति के क्षेत्र में अब आरम्भ कर दो।

भाषा के अतिरिक्त एक स्थान भी एकता का साधन होता है। इङ्गलैंड के लिये लन्दन और इटली के लिये रोम ऐतिहासिक स्थान हैं। हमारे देश में यूं तो कई ऐसे नगर हैं जो हमारे इतिहास के आकाश पर तारों की भाँति जगमग जगमग करते हैं। उदयपुर, चित्तौर, अयोध्या, काशी मेरठ, उज्जैन आदि बहुत से राष्ट्रीय तीर्थ हैं, परन्तु इन सब में अयोध्या नगरी हमारी राष्ट्रीय राजधानी होनी चाहिये। श्री रामचन्द्र जी की जन्म-भूमि ही हमारी जाति के राजनैतिक पुनर्जन्म का स्थान हो। अयोध्या का नाम जनता को प्यारा है। वहीं बिछुड़े हुये भाई मिलें जैसे भरत जी बनवास के पीछे राम और लक्ष्मण से मिले।

हमारी राष्ट्रीय सभा जगह-जगह घूमती न फिरे जैसे आज कल "काँग्रेस" घूमती फिरती है। यह सर्कस का सा व्यवहार अनुचित है। एक स्थान चुन लो जो इतिहास के सूर्य की किरणों से दूर से चमक रहा हो। उसकी ओर जनता की दृष्टि लगाओ। प्रतिवर्ष वहीं राष्ट्रीय सम्मेलन करो। इधर-उधर भटकते न फिरो।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन भी ऐसे राष्ट्रीय सम्मेलन का एक विभाग हो जाये। पूर्ण राष्ट्रीयता के बिना निरे साहित्य से क्या लाभ है? क्या हिन्दी भाषा गुलामों की भाषा है या रहेगी? राष्ट्रीय सभा में इतिहास और उत्सवों का एक विभाग हो। अंग्रेजी सरकार के कुकर्मों की समालोचना के प्रस्तावों का एक विभाग हो। कौंसिलों आदि सरकारी संस्थाओं से लाभ उठाने की रीति पर भी विचार किया जाये। किसानों की सहायता के लिए भी अलग प्रबन्ध हो। राष्ट्रीय शिक्षा भी यथा शक्ति दी जाये, इत्यादि। जाति के राजनैतिक आन्दोलन का इस प्रकार संगठन किया जाये।

राष्ट्रीय सभा में धार्मिक और छोटे सामाजिक प्रश्नों पर वादविवाद न किया जाये। हिन्दुओं में बहुत से सम्प्रदाय हैं आर्य्यसमाजी, कबीरपंथी, राधास्वामी, सनातनधर्म्मी, इत्यादि। और बहुत से मत हैं। "नासौ मुनिर्यस्य मत न भिन्नम्"—एक कवि ने पहले ही यह कह दिया है। सैकड़ों धार्म्मिक प्रश्नों को राजनैतिक सभा में लाना उचित न होगा। सामाजिक सुधार के सम्बन्ध में जो नये विचार हों उनके लिए भी अलग-अलग छोटे आन्दोलन चलाए जाएं। राष्ट्रीय सभा में केवल साहित्य इतिहास, उत्सव, जनता की आर्थिक और राजनैतिक दशा, सरकार के अत्याचार के प्रतिकूल प्रचार, राष्ट्रीय शिक्षा, इत्यादि प्रश्नों ही पर विचार होना चाहिये जिन पर सारी जाति एक मत है। राजनीति और अर्थशास्त्र ही राष्ट्रीयता के रथ के दो पहिये हैं। और अंग्रेजी सरकार के प्रतिकूल प्रचार करना ही हमारा प्रथम और अन्तिम उद्देश्य है। बाकी सब बात तुच्छ हैं पहले राजनीति और स्वराज्य, पीछे और सब काम।

हमारी राष्ट्रीय सभा दसहरे की छुट्टियों में हो। विजय दशमी सारे हिन्दुओं का राष्ट्रीय उत्सव है। प्रतिनिधि अंग्रेजी कपड़ पहन कर न आएं। वह ऐसे वस्त्र पहने जैसे नेपाल के दर्बार में पहने जाते हैं। नेपाल का झण्डा हमारा राष्ट्रीय झण्डा होगा।

यदि हम पहले साम्राज्यान्तर्गत स्वराज्य भी मान लें जो अंग्रेजी सरकार हमें दे तो भी भविष्य का प्रश्न तो वही रहेगा। अंग्रेजों का भारतवर्ष से सम्बन्ध हजारों वर्ष तक तो नहीं रहेगा। कोई साम्राज्य सार्वकालिक नहीं हो सकता है। रोमन जाति इङ्गलैण्ड को स्वयं छोड़ कर चली गई। इसी प्रकार वह दिन भी अवश्य आएगा जब अंग्रेज जाति भी भारतवर्ष से चली जाएगी। चाहे उससे हमारा सम्बन्ध चिरकाल तक

रहे और हम कुछ समय तक साम्राज्यान्तार्गत स्वराज्य 'Home-rule' (होम रूल) ही को स्वीकार कर लें जैसा आयरलैंड निवासियों ने किया है। फिर हम हिन्दू और हमारी हिन्दी ही यहाँ रह जायँगे। हिन्दी भाषी हिन्दुओं का मातृ भाषा के द्वारा अयोध्या में संगठन करना पहला कर्त्तव्य है। इसके बिना तो आगे ठीक काम चल ही नहीं सकता। जब राष्ट्रीय एकता हो गई तो फिर सोचेंगे कि कौंसिलों में बैठें या नहीं, दीवान बनें या नहीं, सरकारी नौकरी करें या नहीं, वकील बनें या नहीं, होमरूल लें या नहीं, इङ्गलैंड से कैसा सम्बन्ध रखें इत्यादि। पूर्ण राष्ट्रीय आदर्श के कैलाश तक यात्रा करने में यह सब टिकाव स्थान (मंजिलें) आएंगे। अन्त में अंग्रेज चले ही जाएंगे और नेपाल, राजस्थान, अवध, सब विभागों को मिलाकर हमारा अपना राष्ट्र बन ही जायगा। इस आदर्श को भूलना न चाहिये। यह कौंसिलों और "होम रूल" के बीच झगड़े तो चलते ही रहेंगे जब तक इङ्गलैंड से सम्बन्ध रहेगा। परन्तु यह अप्राकृतिक सम्बन्ध सदा नहीं रहेगा क्योंकि कोई साम्राज्य चिरजीवी नहीं होता। रोमन साम्राज्य को काल की अग्नि ने भस्म कर दिया तो क्या यह अंग्रेज अजर अमर हैं? क्या इन्होंने अमृत पी रखा है? क्या इतिहास इनके लिये अपने नियम बदल देगा? यह असम्भव है। हमारा पूर्ण राष्ट्रीय आदर्श सर्वथा आवश्यक है चाहे हम पहले अर्ध-स्वतन्त्रता ही को स्वीकार कर लें। यह सब समय और अवसर की बात है। सो देखा जायगा, अब तो मातृभाषा द्वारा अपना सच्चा जातीय सम्मेलन करो,: बुनियादें रखो। फिर स्वराज्य-मन्दिर बनेगा। समय हमारा साथी है।

ऐसे सम्मेलन में मुसलमानों को नहीं बुलाना चाहिये। केवल रंग में भंग होगा। वह दशहरे और अयोध्या का महत्व आज

नहीं समझ सकते। उनकी अपनी League "लीग" है। जब आवश्यक हो तो हिन्दू और मुसलमान नेता मिलकर विशेष 'कान्फ्रेंस' कर लें। जैसे उन्होंने दिल्ली में किया था। दोनों जातियों की अलग-अलग सभायें हों। यही उचित है। अन्त में तो भारतवर्ष में मुसलमान नहीं रहेंगे क्योंकि शुद्धि आदि आन्दोलनों के द्वारा वह सब फिर हिन्दू जाति में आ मिलेंगे यह भी बिछुड़े हुये भाई हैं। अन्त में केवल हिन्दू ही रहेंगे। वह हमारी आशा है और यह हमारा आदर्श है।

दूसरे प्रांतों के साथ काम करने के लिए नेताओं की एक छोटी मंडली काफी है जो सार्वभारतीय प्रश्नों पर विचार करे। विविध भाषायें बोल कर अथवा विदेशी भाषा बोल कर एक बड़ी सर्व भारतीय "काँग्रेस" करना मूर्खता है। यह केवल गड़बड़ है। इससे प्राकृतिक एवं गहरी देशभक्ति कभी उत्पन्न नहीं होगी चाहे तुम सौ वर्ष उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक भागते फिरो। हिन्दू जातियों के नेता एक छोटी सी मण्डली बनाकर काशी में मिल लिया करें, यह काफी होगा। प्रत्येक हिन्दू अपनी भाषा और मातृभूमि से प्रेम रखे। सर्व-भारतीय काँग्रेस की अंधेर नगरी में जनता को मत ले जाओ, इसका प्रभाव अच्छा नहीं होता है। इस बात पर जरा विचार करो।

यह मेरे विचार हैं। हिन्दी भाषी सज्जन गुण-दोष परीक्षा करें, संभव है कि मैं भूल पर हूँ। पर मुझे तो यही ठीक मार्ग प्रतीत होता है। आगे बुद्धिमान देशभक्त स्वयं निश्चय करें। देशभक्त मुझसे पत्र व्यवहार करें। ऐसा नया स्वराजदल स्थापित करना चाहिए। मेरा पहला प्रश्न यही है कि "हमारे देश का क्या नाम है?"

---

# शान्ति पथ के यात्री

मेरा विश्वास है कि स्वभावतः सभी पुरुष और स्त्रियाँ शाँतिवादी हैं, क्योंकि वे शान्तिमय जीवन से प्रेम करते हैं। केवल थोड़े से असाधारण पेटू और राजनैतिक व्यक्ति भले ही युद्ध को आदर्श मानें और इसके गीत गायँ, परन्तु उनकी गिनती स्वस्थ समाज के व्यक्तियों में गणनीय नहीं है। संसार के करोड़ों और अरबों लोग ईमानदारी से अपनी मेहनत की रोटी कमाना, और गृहस्थी पालना, निर्दोष मनोरञ्जन का उपभोग करना, किसी धर्म या निष्ठा पर विश्वास रखना, अभागों और जरूरत-मन्दों की सहायता करना पसन्द करते हैं, और इस प्रकार वे अपनी सांसारिक यात्रा शांति और सम्मान पूर्वक समाप्त कर देना चाहते हैं। मनुष्य एक शान्तिप्रिय जीव है। हम लोग शेरों, भेड़ियों या गिद्धों के वंशज नहीं हैं।

चीन के एक तत्ववेत्ता ने मनुष्य की उपमा जल से दी है, जो भले ही आघात-प्रतिघात कर सर के ऊपर चढ़ जाए या बँध जाने के कारण अपना रास्ता छोड़ दे और भले ही पहाड़ी पर चढ़ जाए, परन्तु शान्त होने पर उसका स्वभाव यह नहीं है। इस प्रकार यह परिस्थितियाँ ही हैं जो मनुष्य को पशुता करने वाला बनाती हैं। जो लोग न्याय और उन्नति के लिये युद्ध का समर्थन करते हैं, वे भी घोषणा करते हैं कि उनका मुख्य उद्देश्य एक पूर्ण शान्तिमय समाज स्थापित करना है। यद्यपि वे अन्तिम सांसारिक शान्ति की स्थापना के लिये कुछ आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों को अनिवार्य समझते हैं, तथापि वे भी युद्ध से घृणा करते हैं। वे इन "न्यायपूर्ण युद्धों" के लिये खेद प्रगट करते हुए कहते हैं कि ये वह मुसीबतें हैं जिनसे बचना

असम्भव है । इस प्रकार आज के 'युद्धवादी' भी कल के 'शान्तिवादी' हैं ।

आज के युद्धवादी यह समझते हैं कि वे युद्धों के पश्चात सांसारिक शान्ति की स्थापना करेंगे, परन्तु एक युद्ध दूसरे संग्राम के बीज बोता है । लड़ाई से लड़ाई पैदा होती है और इस तरह एक प्रकार का 'बुराई का चक्कर' बन जाता है, जिसमें बुराई के बाद बुराई ही आती है, केन्द्र में स्थित भलाई तक वह चक्कर सैकड़ों बार घूम कर भी नहीं पहुँच पाता । ऐसे युद्धवादी सदैव घृणा किये जाएँगे और वे कभी स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त कर सकते । हम शान्तिवादी भले ही धीरे-धीरे अपने मार्ग पर चलते हुए उद्देश्य तक देर में पहुचें, परन्तु वे, जो आशा करते हैं कि आगे चल कर उसी उद्दिष्ट स्थान पर पहुँच जाएँगे, सदैव निश्चित पथ से दूर ही दूर होते जाएँगे, और कभी शान्ति नहीं पा सकेंगे । वे युद्ध की भयङ्करता, आतङ्क ,घृणा में अपना स्वत्व गँवा देंगे । वे पछताएँगे और विलाप करेंगे, परन्तु तब जब साँप निकल गया होगा ।

यदि सब शान्तिवादी प्रयास न करें, तो इतिहास में अगणित वार्सलाज की सन्धियाँ होती ही रहें । यदि युद्धवादी युद्ध अच्छा कर सकते हैं तो शान्तिवादी ही अच्छी शान्ति स्थापित कर सकते हैं । सन १९१९ की वार्सलीज सन्धि में शान्तिवादियों को निमंत्रण नहीं दिया गया था इसी कारण आज हिटलर और हिटलरवाद बुद्धिमानों को शिक्षा देता हुआ देख पड़ता है । ईसा ने ठीक कहा है, कि वे जो तलवार खींचेंगे तलवारों से मारे जाएँगे, परन्तु शान्ति के यात्री इतिहास की प्रगति में परिवर्तन करेंगे और संसार के स्वामी होंगे ।

श्रीसत्यभक्त द्वारा सतयुग प्रेस, बहादुरगंज इलाहाबाद में मुद्रित ।